... की भावना

क्रोपाटकिन

क्रोपाटकिन-दम्पति

क्रांति की भावना

[समाज की नवीन रचना पर मौलिक विचार]

लेखक

प्रिंस क्रोपाटकिन
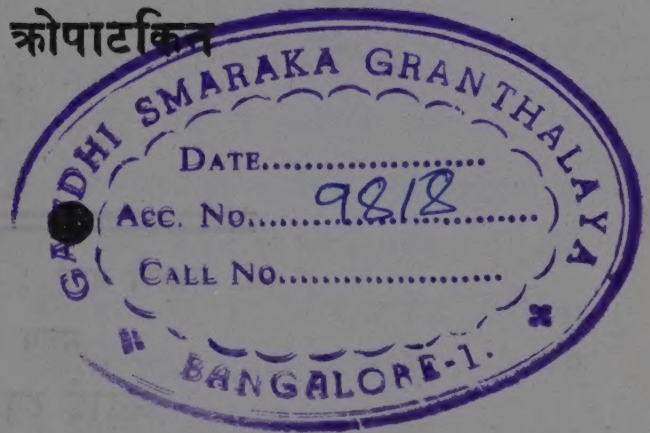
सम्पादक

बनारसीदास चतुर्वेदी

१९५६

सत्साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पहली बार : १९५६
मूल्य
अढ़ाई रुपये

मुद्रक
नशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
दिल्ली

प्रकाशकीय

भारतीय पाठक प्रिंस क्रोपाटकिन के नाम से भली प्रकार परिचित हैं। वह रूस के एक महान् क्रान्तिकारी विचारक थे। उनकी कई पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें 'रोटी का सवाल' तथा 'नवयुवकों से दो बातें' को विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई है। क्रोपाटकिन के विचार मौलिक होने के साथ-साथ बड़े ही क्रान्तिकारी भी थे। वह स्वयं उच्च कोटि के क्रान्तिकारी थे; यद्यपि वे अहिंसावादी नहीं थे तथापि वह निरर्थक हिंसात्मक तोड़-फोड़ की नीति में विश्वास नहीं करते थे। वे विचारों में क्रान्ति चाहते थे और ऐसे समाज की रचना करने के अभिलाषी थे, जिसमें कोई किसीका शोषण न करे, सब प्रेम-भाव से रहें, और प्रत्येक नागरिक स्वावलम्बी बनकर पारस्परिक सहयोग द्वारा अपना जीवन-यापन करे। वे साधनों की पवित्रता पर भी जोर देते थे। वह यह भी चाहते थे कि हर व्यक्ति स्वतंत्र हो और कोई भी छोटा-बड़ा आदमी दूसरे के इशारे पर न नाचे। उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'संघ या सहयोग' (म्यूचुअल एड) की गणना संसार की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में की जाती है।

इस पुस्तक में कई आवश्यक विषयों पर उनके विचार दिये गए हैं। उन्हें पढ़कर पाठक एक नई दृष्टि पायंगे, ऐसी आशा है।

पुस्तक के कुछ लेखों का अनुवाद स्व० ब्रजमोहन वर्मा ने किया था, शेष का श्री जगन्नाथप्रसाद मिश्र, श्री सत्य भक्त तथा श्री बुद्धिप्रकाश ने। 'सबका सुख' नामक अध्याय श्री गोपीकृष्ण विजयवर्गीय द्वारा अनुवादित 'रोटी का सवाल' से उद्धृत किया गया है।

हमें आशा है कि इस पुस्तक के उपयोगी विचारों का व्यापक प्रसार होगा।

मंत्री

भूमिका

"हम लोग रूसी क्रांति के मार्ग को बदलने में असमर्थ हैं, जबतक कि यह अपना ख़ात्मा ख़ुद ही न कर ले; और होगा भी यही। यह अपने को स्वयं ही समाप्त कर डालेगी। उसके बाद प्रतिक्रिया की लहर आयगी। संसार के इतिहास में सदा से ऐसा होता आया है। लोग समझते हैं कि हम क्रान्तियों के विकास के मार्ग को बदल सकते हैं। यह छोकरेपन से भरा हुआ भ्रम है। क्रांति में वह अदम्य शक्ति है कि उसके विकास का क्रम बदला नहीं जा सकता, पर उसके बाद प्रतिक्रिया का आना उतना ही अनिवार्य है, जितना ऊँची लहरों के बै जाने पर पानी का पीछे हटना, अथवा सरगर्मी से मेहनत करने के बाद शारीरिक थकान का होना।"

ये शब्द क्रोपाटकिन ने अपने २८ अप्रैल सन् १९१९ को पश्चिमी यूरोप के मजदूरों के नाम पत्र के रूप में लिखे थे, और आज ३७ वर्ष बाद क्रान्ति की जो प्रतिक्रिया रूस में हो रही है, उसे देखते हुए उनके उपर्युक्त विचार भविष्यवाणी के रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं। आगे चलकर क्रोपाटकिन ने बतलाया था—"क्रान्ति को रोकने की कल्पना बिल्कुल फालतू है। क्रान्ति अपने रास्ते पर आगे बढ़ेगी और उस मार्ग पर जायगी, जहां उसे कम-से-कम बाधा मिले। हम लोगों के प्रयत्न की वह कुछ भी परवाह न करेगी। इस वक्त बात यह है कि रूसी क्रान्ति भयंकर अनाचार कर रही है और सारे देश को तबाह कर रही है। अपने पागलपन से भरे क्रोध में वह मनुष्यों का कत्ल कर रही है, क्योंकि आखिर वह क्रान्ति है, कोई शान्तिमय उन्नति नहीं। हम उसके सामने शक्तिहीन हैं। लोग कल्पना करते हैं कि वे क्रान्ति के दौर को बदल सकते हैं। पर यह ख़ामख़याली है।"

इसके साल भर बाद उन्होंने एमा गोल्डमेन नामक अराजकवादी

महिला से कहा था —"कम्यूनिस्ट लोग केन्द्रीय सरकार में अमिट विश्वास रखते हैं, और इसलिए यह अनिवार्य है कि ये रूसी क्रान्ति को गलत रास्ते पर ले जायं। उनका मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण राजनैतिक शक्ति को अपने हाथों में ले लेना है, और इसलिए वे साम्यवाद के लिए वैसे ही खतरनाक बन गए हैं, जैसे ईसाई-धर्म के लिए जैसुइट सम्प्रदाय के पादरी थे, यानी उनका यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए भले-बुरे चाहे जैसे भी उपाय काम में लाये जा सकते हैं। इन कम्यूनिस्टों के तौर-तरीकों से जनता की शक्ति को लकवा मार गया है और सर्वसाधारण आतंक के कारण भयभीत हो गए हैं; लेकिन एक बात ध्रुव-निश्चित है, और वह यह कि बिना जनता की सहायता के, बिना किसान-मजदूरों के सीधे सह-योग के, देश में कोई भी रचनात्मक काम, कोई भी पुर्ननिर्माण सम्बन्धी आवश्यक कार्य सफल हो ही नहीं सकता।"

क्रोपाटकिन आदर्शवादी व्यक्ति थे, पर उनका दृष्टिकोण सर्वथा वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक था। वह जानते थे कि करोड़ों छोटे-बड़े कारणों से क्रान्तियों का प्रादुर्भाव होता है और इक्के-दुक्के आदमियों या समूहों की उसके सामने कोई भी बिसात नहीं। क्या भूकम्प या आंधी-तूफान का कोई मुकाबला किया जा सकता है ? पर इसके साथ ही क्रोपाटकिन भविष्य के द्रष्टा भी थे। वे दूर की बात देख सकते थे। वे कोरमकोर सिद्धान्तवादी नहीं थे। उन्होंने पश्चिमी राष्ट्रों की रूस विरोधी नीति का प्रबल विरोध किया था, यद्यपि उनके तथा लेनिन की सरकार के विचारों में काफी अन्तर था।

क्रोपाटकिन की क्रान्तिकारी पुस्तिकाओं का संग्रह अंग्रेजी में पहले-पहल सन् १९२८ में न्यूयार्क के 'वैनगार्ड प्रेस' से प्रकाशित हुआ था, पर उसके पूर्व भी वे लाखों की संख्या में यूरोप की अनेक भाषाओं में छप चुकी थीं और वितरित हो चुकी थीं। चीनी और जापानी भाषाओं में भी उनका अनुवाद हुआ था। हमें अच्छी तरह याद है कि सन् १९२०-२१ के आन्दो-लन के दिनों में क्रोपाटकिन की पामफ्लेट 'एन एपील टू दि यंग' बम्बई में छपी थी और उसके आठ-नौ वर्ष बाद हमने उसका अनुवाद

'नवयुवकों से दो बातें' के नाम से बन्धुवर सत्यभक्तजी से करा कर 'विशाल भारत' में प्रकाशित कराया था। तत्पश्चात् कलकत्ता के खादी भंडार ने उसकी कई सहस्र प्रतियां छपाईं और अब 'सस्ता साहित्य मंडल' के द्वारा भी यह पुस्तिका निरन्तर छपती रही है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह पुस्तिका सन् १८८० में 'ली रिवोल्ते' क्रांति नामक फ्रांसीसी पत्र में छपी थी और आज ७६ वर्ष बाद भी वह ज्यों-की-त्यों सजीव है, ताज़ा है !

एक बात खास तौरपर ध्यान देने योग्य है और वह यह कि सर्वोदय तथा अराजकवाद की विचारधाराओं में बहुत-कुछ साम्य है और समय की गति ने उन दोनों को और भी निकट ला दिया है। साधनों की पवित्रता पर तो क्रोपाटकिन पहले ही ज़ोर देते आ रहे थे, पर हिंसा-अहिंसा के विषय में उनके विचार महात्माजी के विचारों से कुछ भिन्न थे। हर्ष और सन्तोष की बात है कि अणुबम के युग ने वह भेद भी दूर कर दिया है। क्रोपाटकिन के अनेक भक्त अब अहिंसा की उपयोगिता को भलीभांति समझने लगे हैं। प्रिंस क्रोपाटकिन के जीवन-चरित 'दि एनारकिस्ट प्रिंस' के लेखकों ने लिखा है :

"The only choice left to us is a society based not on organised violence, but on peaceful understanding; not on the State, but on a decentralised network of voluntary cooperation."

अर्थात्--"हम लोगों के लिए केवल एक ही रास्ता बाकी रह गया है--यानी हम एक ऐसी समाज-व्यवस्था का समर्थन करें, जो संगठित हिंसा के बजाय शांतिमय समझौते के आधार पर कायम हो--जिसका आधार 'राज्य' के बजाय स्वेच्छापूर्ण सहयोग हो--यानी विकेन्द्रित सहकारी समितियों का एक जाल।" दूसरे शब्दों में इसे हम सर्वोदय ही कह सकते हैं।

सर हरबर्ट रीड ने भी अपनी पुस्तक 'एनार्की एण्ड ऑर्डर' (अराजकता और व्यवस्था) की भूमिका में लिखा है :

"एटम बम के युग में किसी अराजकवादी के लिए क्रांतिकारी

वास्तविकता इसी बात में है कि वह शांतिमय उपायों का समर्थन करे। बम तो अब तानाशाही सरकारों का चिह्न बन गया है, वह अराजकवादियों का अस्त्र नहीं रहा।"

हरबर्ट रीड का कहना है कि हमारे उद्देश्य की सिद्धि अत्याचारियों से प्रेम करने से ही हो सकती है--विघातक हाथों को चूमने से !

क्रोपाटकिन आतंकवाद (टेररिज़्म) के समर्थक नहीं थे। उन्होंने एक अराजकवादी पत्र के विषय में लिखा था कि आतंकवाद का समर्थन मूर्खतापूर्ण है। जब उस पत्र ने आतंकवाद के पक्ष में एक लेख छापा था तो क्रोपाटकिन ने लिखा, "वह लेख मुझे बहुत ही बुरा लगा।" सन् १८९६ में उन्होंने अपने एक मित्र रोबिन को लिखा था :

" I cannot continue any longer living entirely by my pen, I sink under the load, whereas if I went over to market gardening and planting of corn, I could give real teaching."

अर्थात्--"अब मैं केवल अपनी लेखनी के द्वारा ही जीविका उपार्जन नहीं कर सकता। उसके बोझ के मारे मैं दबा जाता हूं, लेकिन अगर मैं बाग-बगीचे की चीजें, साग-भाजी फल-फलैरी, पैदा करता और अनाज उगाता, तो दर-असल कुछ सिखा सकता।" क्रोपाटकिन के इस पत्र की तुलना कीजिए महात्मा गांधी के उस पत्र से, जो उन्होंने पंडित तोतारामजी सनाढ्य को सन् १९३३ में लिखा था :

"विवरण (खेती का) दुबारा पढ़ लूंगा। मेरी आकांक्षा तो यह है कि हम इतने फल और इतनी भाजी पैदा करें जो हमारे लिए पर्याप्त हो। यदि गोमाता के लिए भी घास आदि पैदा करें और आश्रम के लिए अनाज तो खेती के पूर्ण आदर्श को हम पहुंचें। इसमें थोड़ा ज्यादा खर्च भी हुआ तो भी मैं उसको सफल समझूंगा, लेकिन मैं जानता हूं कि यह सब मूर्ख का बकवाद है। खेती का काम सबसे कम किया और बातें सबसे मैंने इस बारे में ज्यादा

की है। क्या करूं ? खती उन्हीं चीजों में से है जो करने का ख़याल मुझको आधी आयु बीतने पर आया ।"

क्या ही अच्छा हो यदि समाज-शास्त्र के कोई विशेषज्ञ इन दोनों महानुभावों--क्रोपाटकिन तथा गांधीजी--के जीवन तथा विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करके एक निबन्ध लिखें ! भावी समाज-व्यवस्था के आधार-स्तम्भों का निर्माण करनेवाली इन दोनों विभूतियों का विचार-साम्य सचमुच आश्चर्यजनक है ।

हमें इस बात का खेद ह कि क्रोपाटकिन की सर्वोत्तम पामफ्लेट 'मॉडर्न साइंस एण्ड एनार्किज्म' (आधुनिक विज्ञान और अराजकवाद) का अनुवाद हम इस पुस्तक में नहीं दे सके। वह तो अपने में पूर्ण एक पुस्तिका ही है और उसे हम अलग ही छपाना चाहते हैं।

क्रोपाटकिन के विचारों का मूल्य इसलिए और भी बढ़ जाता है कि उन्होंने तदनुसार रहने का भरपूर प्रयत्न किया। यद्यपि आज उनके सिद्धान्त अव्यावहारिक से प्रतीत होते हैं, संसार में केन्द्रीकरण तथा शासन के सिद्धांतों की विजय दीख पड़ती है, तथापि यह विजय चिरस्थायी नहीं कही जा सकती। जब ३९ वर्ष की तानाशाही के बाद स्वयं रूस में उस विचारधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई है, तो अन्य देशों के बारे में तो कहना ही क्या है ! मानव-जीवन के इतिहास में एक युग के बाद दूसरा युग आता है। भिन्न-भिन्न देशों को प्रायः उन्हीं युगों में से गुजरना पड़ता है। मानव-शरीर की अनेक व्याधियों की तरह शासन भी चेचक या खसरे की तरह की एक बीमारी ही है, और यदि करोड़ों वर्ष के मानव-जीवन में दो-चार हजार वर्ष शासन रूपी बीमारी में व्यतीत हो गए, तो उससे हमें कुछ आश्चर्य न होना चाहिए। पर अब मनुष्यों की विचारधारा स्वस्थता की ओर बढ़ रही है। विचारों की स्वाधीनता तथा पारस्परिक सहयोग, विकेन्द्रीकरण और स्वेच्छापूर्ण संघ-निर्माण के सिद्धान्त अब अधिकाधिक लोकप्रिय होते जा रहे हैं।

सुना है, मयूरभंज राज्य में एक शिलालेख पाया गया है, जिसमें लिखा है :

'राज्य वै वैराज्याय'

यानी राज्य का हेतु वैराज्य या अराजकवाद ही है (State exists for anarchy)। इस विषय में क्या मार्क्स और क्या लेनिन, क्या क्रोपाटकिन और क्या गांधीजी, चारों ही एकमत हैं। पर उस अराजकवाद की वैज्ञानिक व्याख्या अपनी लेखनी तथा जीवन द्वारा केवल क्रोपाटकिन ने ही की थी और इस दृष्टि से उनके लेखों का महत्त्व है।

१९, नार्थ ऐवेन्यू,
नई दिल्ली
१ अगस्त १९५६

बनारसीदास चतुर्वेदी

प्रिंस क्रोपाटकिन : रेखा-चित्र

"जनाब व्लादीमीर इलियच (लेनिन), जब आपकी आकांक्षा तो यह है कि हम एक नवीन सत्य के मसीहा बनें और नवीन राज्य के संस्थापक, तो फिर आप किस प्रकार ऐसे बीभत्स सरकारी अनाचारों और ग़ैर-मुनासिब सरकारी तौर-तरीक़ों को अपनी स्वीकृति दे सकते हैं, जैसे कि किसी अपराध के लिए अपराधी के नाते-रिश्तेदारों को गिरफ़्तार कर लेना ? इससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आप ज़ारशाही के विचारों से चिपके हुए हैं। पर शायद उन निरपराध आदमियों को पकड़कर आप अपनी जान की रक्षा करना चाहते हैं। क्या आप इतने अन्धे हो गये हैं और अपनी तानाशाही के विचारों के इतने गुलाम बन गये हैं कि आपको यह बात नहीं सूझती कि आप-जैसे यूरोपियन साम्यवाद के अग्रणी के लिए यह कार्य (लज्जाजनक तरीक़ों द्वारा निरपराधों की गिरफ़्तारी) सर्वथा अनधिकार चेष्टा है ? आपका यह काम भयंकर रूप से त्रुटिपूर्ण तो है ही, बल्कि उससे यह भी प्रकट होता है कि आप मृत्यु से डरते हैं, जो सर्वथा तर्क-विहीन बात है। उस साम्यवाद के विषय में क्या कहा जाय, जिसका एक महत्त्वपूर्ण रक्षक इस प्रकार ईमानदारी की प्रत्येक भावना को पैरों-तले कुचलता है ?"

यह है उस महत्त्वपूर्ण पत्र का एक अंश, जिसे अपने जीवन के अन्तिम दिनों में (अपनी मृत्यु से दो महीने पूर्व) क्रोपाटकिन ने लेनिन को लिखा था। लेनिन उन दिनों विशाल रूसी राज्य के निरंकुश शासक थे और क्रोपाटकिन ४१ वर्ष के देश-निकाले के बाद चार वर्ष अपनी मातृभूमि के दमघोंटू वातावरण में काटकर परलोक-गमन की तैयारी कर रहे थे। इन शब्दों में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के उस महापुरुष की आत्मा बोल रही है, जिसने कभी अन्याय के साथ समझौता करना मुनासिब न समझा जिसने साधन और साध्य

दोनों की पवित्रता पर समान रूप से ज़ोर दिया और जिसने ईमानदारी तथा अपरिग्रह का वह दृष्टांत उपस्थित कर दिया, जिसकी मिसाल संसार के राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के इतिहास में दुर्लभ ही है।

जब केरेन्स्की ने क्रोपाटकिन से कहा—"आप हमारे सरकारी मंत्रि-मंडल में जिस किसी पद को चुन लीजिये, वही आपको अर्पित हो जायगा", उस समय क्रोपाटकिन ने उत्तर दिया था—"मंत्रित्व के कार्य की अपेक्षा तो मैं जूतों पर पालिश करनेवाले चमार का काम अधिक आदरणीय तथा उपयोगी मानता हूँ।" इसी प्रकार दस हज़ार रूबल की पेंशन के प्रस्ताव को उन्होंने ठुकरा दिया और ज़ार के शीतकालीन महलों के निवास की सर्वथा उपेक्षा की। यह तो हुई लेनिन के पूर्व के शासकों के समय की बात; स्वयं साम्यवादी सरकार के शिक्षा-मंत्री लूनाचरस्की ने जब क्रोपाटकिन को लिखा, "आप सरकार के ढाई लाख रूबल लेकर अपनी किताबों के छापने का अधिकार हमें दे दीजिये", तो क्रोपाटकिन ने उत्तर दिया—"मैंने तो कभी शासन से पैसा लिया नहीं और न अब ही सरकारी सहायता ग्रहण कर सकता हूँ।" यह उन दिनों की बात है, जब क्रोपाटकिन को वृद्धावस्था के अनुरूप पर्याप्त भोजन भी नहीं मिलता था, जब उनके पास रोशनी की भी कमी थी और कोई सहायक भी नहीं था।

प्रश्न उठता है कि आदर्शवाद को पराकाष्ठा तक पहुँचा देनेवाले क्रोपाटकिन अपनी गुज़र-बसर कैसे करते थे? देश-निकाले के ४१ वर्ष उन्होंने अपनी लेखनी के बल-बूते पर ही काट दिये। इसमें भी अराजकवादी लेखों से उन्होंने एक पैसा नहीं कमाया। वे अत्यंत उच्चकोटि के वैज्ञानिक थे और विज्ञान-सम्बन्धी लेखों तथा टिप्पणियों से उन्हें कुछ मजदूरी मिल जाती थी। बड़ी सादगी के साथ उन्होंने अपने आत्म-चरित में लिखा है—"अगर रूस से पर्याप्त समाचार आ जाते अथवा वैज्ञानिक विषयों पर भी नोट स्वीकृत हो जाते, तो रोटी-चाय के साथ मक्खन भी मिल जाता था, नहीं तो रूखी रोटी पर ही गुज़र करनी पड़ती थी।"

सुप्रसिद्ध लेखक फ्रैंक हैरिस ने क्रोपाटकिन के इंगलैण्ड के निवास के

दिनों के आतिथ्य का एक अच्छा शब्द-चित्र खींचा है—"क्रोपाटकिन की धर्मपत्नी सोफी भोजन तैयार कर रही हैं पति के लिए, छोटी-सी पुत्री के लिए और अपने लिए, कि इतने में कोई अतिथि महोदय न-जाने कहां से आ टपके ! क्रोपाटकिन ने शीघ्र ही भीतर जाकर कहा—"सोफी, जरा साग में थोड़ा पानी मिला देना।" थोड़ी देर बाद एक और अतिथि देव पधारे और क्रोपाटकिन को फिर भीतर जाकर कहना पड़ा—"कुछ पानी और भी।" इस प्रकार की क्रिया कई बार करनी पड़ती और सोफी को ढाई आदमियों के बजाय छः-सात आदमियों को भोजन कराना पड़ता। मेहमानदारी क्रोपाटकिन के अत्यंत प्रिय गुणों में से थी और कोई बिल्कुल अजनबी आदमी भी उनके घर पर किसी संकोच को अनुभव न करता था।"

संसार में अनेक राजनैतिक महापुरुष हुए हैं और होंगे—पर मस्तिष्क की विशालता, हृदय की उदारता, चरित्र की स्वच्छता और जीवन की उच्चता के खयाल से क्रोपाटकिन का दृष्टांत प्रायः अनुपम ही सिद्ध होगा। वैसे प्रारम्भिक तथा यौवन के वर्षों की दृष्टि से क्रोपाटकिन के जीवन का सर्वोत्तम वृतांत तो उनके आत्म-चरित 'मेमोइर्स आव ए रिवोल्यूशनिस्ट' से ही मिल सकता है, पर वह ग्रंथ सन् १८९८ तक का ही है और उसके बाद क्रोपाटकिन २३ वर्ष और जीवित रहे थे। इस कारण उनके एक विस्तृत जीवन-चरित्त की आवश्यकता थी और उसकी पूर्त्ति जार्ज बुडकोक और आइवन अवाकुमोविक नाम के दो ग्रंथकारों ने की है। (प्रिंस पीटर क्रोपाटकिन—प्रकाशक बोर्डमैन)।

क्रोपाटकिन का जन्म सन् १८४२ में हुआ और मृत्यु १९२१ में। उनके जीवन-चरित में तत्कालीन रूस का एक चलता-फिरता चित्र-सा दिखाई देता है। उनका आत्मचरित इतनी खूबी के साथ लिखा गया है कि उसे उन्नीसवीं शताब्दी का सर्वोत्तम आत्मचरित कहा जाता है। क्रोपाटकिन का जीवन एकांगी न था, वह बहुअंगीन था। क्रांतिकारी अराजकवादी तो वे थे ही, पर साथ-ही-साथ संसार के भूगोलवेत्ताओं में भी वे शिरोमणि थे और समाज-विज्ञान के भी जाने-माने आचार्य। रूस तथा यूरोप के सत्तर वर्ष के इतिहास

पर भी उनके जीवन से विशेष प्रभाव पड़ा है।

क्रोपाटकिन के इस जीवन-चरित को पढ़ते हुए हमें उनके और गांधीजी—इन दोनों महापुरुषों के जीवन तथा दृष्टिकोण में अद्भुत साम्य प्रतीत हुआ। साधनों की पवित्रता पर वे उतना ही ज़ोर देते थे, जितना कि महात्मा गांधी। मेरी गोल्ड स्मिथ नामक एक यहूदी अराजकवादी ने लिखा है—"जो भी नवयुवक क्रोपाटकिन से मिलने जाता था, उसका कथन वे बड़ी प्रेमपूर्ण मुस्कराहट और सौम्य भावना से सुनते थे; पर एक बात थी वह यह कि यद्यपि प्रत्येक ईमानदार तथा उत्साही युवक के प्रति उनका व्यवहार उदारतापूर्ण रहता था, तथापि साधनों के चुनाव के विषय में वे काफी कठोरता से काम लेते थे। प्रचार के कुछ ढंगों को क्रोपाटकिन असह्य मानते थे। अनुचित साधनों का ज़िक्र करते हुए उनका स्वर कठोर हो जाता था और उनकी निन्दा बिना किसी लगा-लेसी के होती थी। 'चाहे जैसे बुरे-भले साधनों से अपने लक्ष्य की प्राप्ति' इस सिद्धांत से उन्हें घोर घृणा थी और कोई भी प्रश्न हो—चाहे संगठन का, या रुपये एकत्रित करने का, या विरोधियों के प्रति व्यवहार का, या दूसरी पार्टियों के साथ संबंध स्थापित करने का—अगर कोई साधनों की पवित्रता को नगण्य मानता, तो वे उसे नफ़रत की निगाहों से देखते थे और उसे निन्दनीय मानते थे।"

श्री जवाहरलालजी का कथन ह कि 'साधनों की पवित्रता' पर जोर देकर महात्माजी ने राजनीति को बड़े ऊँचे धरातल पर ला दिया। संसार की राजनीति को यह उनका एक बड़ा दान था। इस विषय में क्रोपाटकिन उनके अग्रणी ही थे।

शिक्षा, कृषि, शारीरिक श्रम का महत्त्व और विकेन्द्रीकरण के सिद्धांतों पर तो दोनों महापुरुषों के विचार बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। सन् १८९६ में जब टाइनसाइड के कुछ कार्यकर्त्ता एक कृषि-संघ कायम करके खेती बढ़ाना चाहते थे, क्रोपाटकिन ने उन्हें एक पत्र लिखकर प्रोत्साहित किया था और साथ ही मार्ग की बाधाओं के विषय में भी आगाह कर दिया था। उन्होंने बतलाया था कि छोटे समूह में अक्सर झगड़े उठ खड़े होते हैं, शहरी कार्यकर्त्ताओं के

लिए भूमि पर काम करना मुश्किल हो जाता है। पूंजी की कमी का खतरा अलग रहता है और संन्यासीपन की भावना गलत रास्ते पर ले जाती है। इसके बाद उन्होंने लिखा था—"यदि कृषि का कार्य तुमको आकर्षक लगता है तो उसीको ग्रहण करो। तुम्हें उसमें अपने पहले के आदमियों की अपेक्षा सफलता की आशा अधिक है। कम-से-कम तुम्हें सहानुभूति मिलेगी ही और मेरी सद्भावना तो बराबर तुम्हारे साथ रहेगी।"

क्रोपाटकिन ने कृषि के विषय में भी अनुसंधान किये थे। जब वह फ्रांसीसी जेल में थे, तो सरकार ने उन्हें अपने कृषि-संबंधी प्रयोगों के लिए एक खेत दे दिया था, और ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने जो प्रयोग वहां किये थे, उन्होंने कृषि-जगत् में एक क्रांति ही कर दी! इन्हीं प्रयोगों के आधार पर उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'फील्ड, फ़ैक्टरीज़ एण्ड वर्कशाप' लिखी। नई तालीम के अनेक मूल सिद्धांत इस पुस्तक में हैं।

क्रोपाटकिन के जीवन-चरित के लेखकों ने लिखा है—"क्रोपाटकिन तथा उनके साथियों में आतंकवाद पर बराबर मतभेद रहा।" स्वयं क्रोपाटकिन ने भी एक जगह लिखा है—"साधारणतः यह कहना ठीक होगा कि आतंक की प्रतिष्ठा एक सिद्धांत के रूप में कर देना मूर्खतापूर्ण है।" इस संबंध में सन् १८९३ की एक महत्त्वपूर्ण घटना यहां दी जाती है। कोयले की खानों में हड़ताल हो गई थी। इंगलैण्ड के मजदूर नेता एक होटल में इकट्ठे हुए थे और उन्होंने क्रोपाटकिन को भी निमंत्रित किया था। जबतक खान के मजदूरों के कष्टों के निवारण की चर्चा चलती रही, सभी लोग एक-दूसरे से सहमत रहे, पर ज्योंही उपायों का विषय छिड़ा कि क्रोपाटकिन की 'शांति-प्रियता' ने मानों मेज पर विस्फोटक काम किया। मजदूर दल के सभी नेता सरकार के खिलाफ और कठोर उपाय काम में लाने के पक्षपाती निकले। इसके विपरीत क्रोपाटकिन का कहना था कि हमें सत्याग्रह, बीच-बचाव तथा प्रचार से काम लेना चाहिए। इस वाद-विवाद का नतीजा यह हुआ कि सभा भंग हो गई। टामस मैन नामक मजदूर नेता बार-बार चिल्ला रहे थे—"हमें विध्वंस की नीति का आश्रय लेना चाहिए, चीजों को तोड़-फोड़ डालना

चाहिए, ज़ालिमों को ख़त्म कर देना चाहिए।" लेकिन ज्योंही कुछ शांति होती, प्रिंस क्रोपाटकिन अपने वैदेशिक लहजे में बड़ी विनम्रता से बराबर यही कहते सुनाई देते—"नहीं, विनाश नहीं, हमें निर्माण करना चाहिए। हमें मनुष्यों के हृदय का निर्माण करना चाहिए।" ये शब्द तो बिल्कुल महात्मा गांधी जैसे ही प्रतीत होते हैं; और उन दिनों—१८९३ में—महात्माजी ने दक्षिण अफ्रीका में वकालत के लिए प्रवेश किया ही था।

देश का—देश का ही नहीं, संसार का—यह दुर्भाग्य है कि हमारे यहां संसार के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विचारकों के विचारों का सारांश निकालनेवाले विद्वान् बहुत कम हैं, और खास तौर से आज तो जबकि दुनिया चौराहे पर खड़ी हुई है और उसके सामने ठीक मार्ग ग्रहण करने का प्रश्न उपस्थित है, यह विषय और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। एक मार्ग है क्रोपाटकिन तथा गांधीजी का और दूसरा है मार्क्स और स्तालिन का।

महापुरुषों के जीवन-चरित में अद्भुत स्फूर्त्ति प्रदान करने की सामर्थ्य होती है, और इस दृष्टि से क्रोपाटकिन का जीवन-चरित खासा महत्त्व रखता है। क्या अजीब सिनेमा-जैसा दृश्य वह हमारी आँखों के सामने ला उपस्थित करता है! एक अत्यंत प्राचीन और उंच्चवंश में जन्म, ज़ारशाही के अत्याचारों का घनघोर अन्धकार, गुलामी की प्रथा का दौर-दौरा, आठ वर्ष की उम्र में ज़ार के पार्षद बालक, १२ वर्ष की अवस्था में फ्रेंच भाषा का अध्ययन और रूसी राजनैतिक साहित्य में रुचि, अपमे बड़े भाई एलेक्जेंडर के साथ हार्दिक प्रेम, फौजी स्कूल में शिक्षा, साइबेरिया की यात्रा—गवर्नर जनरल के ए. डी. सी. बनकर वहां से त्यागपत्र, फिर सेंट पीटर्सबर्ग के विश्वविद्यालय में पांच वर्ष तक गणित तथा भूगोल का अध्ययन, क्रांतिकारी दल में सम्मिलित होना, यूरोप की यात्रा और वहां अराजकवादी संस्थाओं का संपर्क, रूस लौटकर क्रांतिकारी विचारों का प्रचार आदि। इसके बाद का दृश्य ए. जी. गार्डिनर के रेखाचित्र में देख लीजिये :

"नाटक का पर्दा बदलता है। जार्ज निकोलस की अंधेरी रात दूर हो गई। लेकिन उसके बाद दासत्व-प्रथा बन्द होने के कारण थोड़ी देर के

लिए जो उषाकाल आया था, उसे स्तोलिपिन प्रतिक्रिया के अन्धकार ने ढँक लिया और रूस फिर पुलिस के अत्याचारों से कुचला जाने लगा। सैकड़ों निरपराध आदमी फांसी पर लटका दिये गए और हजारों ही जेल में ठेल दिये गए, अथवा साइबेरिया में अपनी कब्र खोदने के लिए निर्वासित कर दिये गए। सारे रूस पर भय और आतंक का राज्य था, लेकिन भीतर-ही-भीतर रूस जाग्रत हो रहा था। जार एलेक्जेंडर द्वितीय ने अपने शासन का सूत्र दो जालिम पुलिस अफसरों—ट्रेपोफ और शुवालोफ—को सौंप दिया था। वे चाहे जिसे फांसी पर लटका देते थे और चाहे जिसे निर्वासित कर देते थे। लेकिन फिर भी वे क्रांतिकारी गुप्त समितियों की कार्यवाहियों को रोकने में सफल नहीं हुए। ये समितियां दनादन स्वाधीनता तथा क्रांति का साहित्य जनसाधारण में बांट रही थीं। इस घोर अशांतिमय वायुमंडल में भेड़ की खाल ओढ़े एक अद्भुत व्यक्ति, भूत की तरह, इधर-से-उधर घूम रहा है। उसका नाम बीरोडिन है। पुलिस के अफसर हाथ मल-मलकर कहते हैं:—"बस, अगर हम लोग बीरोडिन को किसी तरह पकड़ लें तो इस क्रांतिकारी सर्पिणी का मुँह ही कुचल जाय—हां, बोरोडिन को और उसके साथी-संगियों को!" लेकिन बीरोडिन को पकड़ना आसान काम नहीं। जिन जुलाहों और मजदूरों के बीच में वह काम करता है, वे उसके साथ विश्वासघात करने के लिए तैयार नहीं। वे सैकड़ों की संख्या में पकड़े जाते हैं, कुछ को जेल का दंड मिलता है और कुछ को फांसी का; पर वे बोरोडिन का असली नाम और पता बतलाने के लिए तैयार नहीं होते।

"सन् १८७४ की वसन्त ऋतु। संध्या का समय। सेन्ट पीटर्सबर्ग के सभी वैज्ञानिक और विज्ञान-प्रेमी ज्योग्राफिकल सोसाइटी के भवन में महान् वैज्ञानिक प्रिंस क्रोपाटकिन का व्याख्यान सुनने के लिए एकत्र हुए हैं। फिनलैण्ड की यात्रा के परिणामों के विषय में उनका भाषण होता है। रूस के 'डाइल्यूवियल' (जलप्रलय) काल के विषय में वैज्ञानिकों ने जो सिद्धांत अबतक कायम कर रखे थे, वे एक-के-बाद दूसरे खंडित होते जाते हैं और अकाट्य तर्क के आधार पर एक नवीन सिद्धांत की स्थापना होती है। सारे

वैज्ञानिक जगत में क्रोपाटकिन की धाक जम जाती है। इस महापुरुष के मस्तिष्क के विषय में क्या कहा जाय ! उसका शासन भिन्न-भिन्न ज्ञानों तथा विज्ञानों के समूचे साम्राज्य पर है। वह महान् गणितज्ञ है, ग्रन्थकार है (बारह वर्ष की उम्र में उसने उपन्यास लिखे थे), वह संगीतज्ञ है और दार्शनिक । बीस भाषाओं का वह ज्ञाता ह और सात भाषाओं में वह आसानी के साथ बातचीत कर सकता है । तीस वर्ष की उम्र में रूस के चोटी के विद्वानों में—उस महान् देश के कीर्ति-स्तंभों में—प्रिंस क्रोपाटकिन की गणना होने लगती है । प्रिंस क्रोपाटकिन को बाल्यावस्था में फौजी काम सीखना पड़ा था, और पांच वर्ष बाद जब उनके सामने स्थान के चुनाव का सवाल आया तो उन्होंने साइबेरिया को चुना था । वहां सुधार की जो योजना उन्होंने पेश की और आमूर दरिया की यात्रा करके एशिया के भूगोल की भद्दी भूलों का जिस तरह संशोधन किया, उससे उनकी कीर्त्ति पहले से ही फैल चुकी थी, पर आज तो भौगोलिक जगत में विजय का सेहरा उन्हींके सिर बांध दिया गया। प्रिंस क्रोपाटकिन ज्योग्राफिकल सोसायटी के 'फिजीकल ज्योग्राफी' विभाग के सभापति मनोनीत किये गए। भाषण के बाद ज्योंही गाड़ी में बैठकर वे बाहर निकले, एक दूसरी गाड़ी उनके पास से गुज़री, एक जुलाहे ने उस गाड़ी में से उचककर कहा—"मिस्टर बोरोडिन, सलाम ।" दोनों गाड़ियां रोक दी गईं । जुलाहे के पीछे खुफिया पुलिस का एक आदमी उस गाड़ी में से कूद पड़ा और बोला—"मिस्टर बोरोडिन उर्फ प्रिंस क्रोपाटकिन, मैं आपको गिरफ़्तार करता हूँ ।" उस जासूस के इशारे पर पुलिस के आदमी कूद पड़े। उनका विरोध करना व्यर्थ होता, क्रोपाटकिन पकड़ लिये गए। विश्वासघाती जुलाहा दूसरी गाड़ी में उनके पीछे-पीछे चला ।"

(इसके बाद वे किस तरह किले की जेल में डाल दिये गए, वहां उन्हें क्या-क्या यातनाएं सहनी पड़ीं, और वहां से वह किस तरह भाग निकले, इसका अत्यंत मनोरंजक वृत्तांत पाठक इस पुस्तक के 'जेल से भागना' नामक लेख में पढ़ सकते हैं।)

सन १८७६ से लेकर १९१७ तक ४१ वर्ष क्रोपाटकिन को स्वदेश से

बाहर व्यतीत करने पड़े। कठोर-से-कठोर साधना का यह लम्बा युग केवल उनके जीवन का ही नहीं, संसार के राजनैतिक इतिहास का भी एक महत्त्व-पूर्ण अध्याय है। इस बीच में वे स्विटजरलैण्ड और फ्रांस में भी रहे और दो-ढाई वर्ष के लिए उन्हें फ्रांसीसी जेल की भी हवा खानी पड़ी। उनके सभी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ इसी युग में लिखे गए। इनमें कई तो ऐसे हैं, जिनका विश्व-व्यापी महत्त्व है, जैसे 'पारस्परिक सहयोग' और 'रोटी का सवाल' आदि। उनके क्रांतिकारी लेखों के भी कई संग्रह भिन्न-भिन्न भाषाओं में छपे थे और अनेक रचनाएं हिन्दी में भी छप चुकी हैं।

क्रोपाटकिन ने लन्दन में सन् १८८६ में 'फ्रीडम' नामक पत्र की स्थापना की, जो अबतक चल रहा है। इसी वर्ष क्रोपाटकिन के जीवन की एक अत्यंत दुःखमय घटना घटी, यानी उनके बड़े भाई ने साइबेरिया से लौटते हुए रास्ते में आत्मघात कर लिया। उन्हें भी देश-निकाले का दंड दिया गया था, जिसके कारण बारह वर्ष उन्हें साइबेरिया में बिताने पड़े थे। जब उनके छुटकारे के दिन निकट आये तो उन्होंनें अपने बाल-बच्चों को पहले ही रूस रवाना कर दिया और फिर एक दिन निराशा से अभिभूत होकर अपने आपको गोली मार ली। वे महान् गणितज्ञ थे, खगोलशास्त्र के अद्भुत ज्ञाता थे, और ज्योतिष-शास्त्र के बड़े-से-बड़े विद्वानों ने उनकी कल्पनाशील प्रतिभा की बहुत प्रशंसा की थी। महज आशंका के आधार पर उन्हें जारशाही ने देश-निकाले का दंड दिया था, जबकि क्रांतिकारी दलों से उनका कोई भी संबंध न था! यदि उन्हें स्वाधीनतापूर्वक अपने खगोल-संबंधी अनुसंधान करने की सुविधा होती, तो उस शास्त्र की उन्नति में न जाने वे कितने सहायक हुए होते। पर निरंकुश शासकों में भला इतनी कल्पना-शक्ति कहां! क्रोपाटकिन के हृदय में उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा थी। इन दोनों भाइयों का प्रेम-पूर्ण व्यवहार आदर्श था, पर क्रोपाटकिन ने अपनी इस हृदय-वेधक दुर्घटना का जिक्र अत्यंत संयम के साथ केवल एक वाक्य में किया है—"हमारी कुटिया पर कई महीने तक दुःख की घटा छाई रही।" क्रोपाटकिन ने अपनी भाभी तथा भतीजे-भतीजियों की यथाशक्ति सेवा की।

क्रोपाटकिन की समस्त शिक्षाओं का आधार उनकी मनुष्यता थी। वस्तुतः अराजकवाद इस विषय में मार्क्सवाद से सर्वथा भिन्न है। मार्क्स-वादियों की दृष्टि में व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं। मार्क्सवादी उसके साथ शतरंज के मुहरे की भांति व्यवहार करते हैं और सिद्धांत-संबंधी मतभेद होने पर उसके शरीर तथा आत्मा को अलग-अलग कर देने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं होता ! पर अराजकवादी के लिए मनुष्य वस्तुतः मनुष्य है, जिसके लिए मानों उसका हृदय उमड़ा पड़ता है। साम्यवादी को अपनी 'प्रणाली' की चिन्ता है, जबकि अराजकवादी को 'मनुष्य' की। जब भी कभी अन्याय तथा अत्याचार का प्रश्न आता, क्रोपाटकिन बिना किसी भेदभाव के उसका विरोध करते—चाहे वह अन्याय उनके विरोधी पंथ वाले पर ही क्यों न किया गया हो। उनके शब्द सुन लीजिये—"हम व्यक्ति की पूर्ण स्वाधीनता को मानते हैं। हम उसके लिए जीवन की प्रचुरता तथा उसकी समस्त प्रतिभाओं का स्वतंत्र विकास चाहते हैं। हम उसके ऊपर लादना कुछ भी नहीं चाहते। इस प्रकार हम उस सिद्धांत पर पहुँचते है, जिस सिद्धांत को प्योरिये ने धार्मिक नीति-ज्ञान के विरोध में रखते हुए कहा था—"मनुष्य को बिल्कुल स्वतंत्र छोड़ दो। उसे अंगहीन मत बनाओ, क्योंकि धर्म पहले से ही उसको अपंग—ज़रूरत से ज्यादा अपंग—बना चुका है।" उसके मनोविकारों से भी मत डरो। स्वतंत्र समाज में ये ख़तरनाक नहीं होते।"

प्रिंस क्रोपाटकिन के ग्रंथों को पढ़ जाइये, कहीं भी कोई क्षुद्र भावना उनमें दिखाई न देगी। कम्युनिस्ट साहित्य के शाब्दिक जंजाल का उनमें नामो-निशान तक नहीं है। कम्युनिस्ट अर्थ को इतना महत्त्व देते हैं और नैतिकता को इतना नगण्य मानते हैं कि उनके साहित्य की लू-लपट में किसी भी सहृदय मनुष्य की आत्मा झुलस सकती है। क्रोपाटकिन का साहित्य इसके बिल्कुल विपरीत है। उसमें नैतिकता की शीतल मन्द समीर सदा ही बहती रहती है।

क्रोपाटकिन के ४१ वर्षीय देश-निकाले के कितने ही किस्से उनके जीवन-चरित में तथा उनके विषय में लिखे संस्मरणों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े

हैं, जिनसे उनकी सन्त-प्रकृति पर पूरा-पूरा प्रकाश पड़ता है। एक बार फ्रैंक हैरिस ने उनसे कहा—"आपने देखा, उन अराजकवादियों ने यौवनावस्था में तो खूब काम किया, पर अब वे अर्थ-लोलुपता के शिकार हो गये हैं।" इसपर क्रोपाटकिन ने उत्तर दिया—"उन लोगों ने जोश-जवानी के दिन हमारे अर्पित कर दिये और अपना सर्वोत्तम हमें भेंट कर दिया। अब इससे अधिक की मांग उनसे हम कर ही क्या सकते हैं?" यह उदारता ही क्रोपाटकिन के संपूर्ण जीवन की कुंजी थी।

विलायत में रहते हुए क्रोपाटकिन की मैत्री वहां के सर्वश्रेष्ठ विचारकों तथा कार्यकर्ताओं से हो गई थी। उनमें से कितने ही उनके प्रशंसक थे। हिंडमैन, बरनार्ड शा, लैन्सबरी, एडवर्ड कारपेंटर, नैविनसन और ब्रेल्सफोर्ड प्रभति से उनके संबंध बहुत निकट के थे। जब क्रोपाटकिन ७० वर्ष के हुए, तो उनके अभिनंदन के लिए आयोजित एक सभा में बरनार्ड शा ने कहा था—"मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इतने वर्ष तक हम लोग गलत रास्ते पर चलते रहे हैं, और क्रोपाटकिन का रास्ता ही ठीक था।" तपस्वियों तथा विचारकों की विचारधारा बहुत धीरे-धीरे काम करती है। क्रोपाटकिन ने अपनी वाणी तथा लेखनी द्वारा जो महान कार्य किया, उसने केवल इंग्लैण्ड ही नहीं, फ्रांस, इटली, स्विटज़रलैण्ड तथा यूरोप के अन्य देशों के विचारकों को भी प्रभावित किया और जो विचार उन दिनों नवीन प्रतीत होते थे, वे आज सार्वजनिक बन गये हैं।

सन् १९१७ की रूसी-क्रांति के बाद क्रोपाटकिन ने स्वदेश लौटना उचित समझा। तब वे ७५ वर्ष के हो चुके थे फिर भी उनके मन में युवकों-जैसा उत्साह था। पेट्रोग्रेड में ६० हजार आदमियों ने उनका स्वागत किया और रूसी सरकार के प्रधान केरेन्स्की भी उनके स्वागतार्थ उपस्थित थे। चूंकि क्रोपाटकिन का विश्वास किसी भी सरकार में नहीं था, इसलिए उन्होंने कोई सरकारी पद ग्रहण नहीं किया। वैसे केरेंस्की के साथ उनके संबंध अच्छे थे, पर लेनिन के हाथ में शक्ति पहुँचने पर क्रोपाटकिन सर्वथा उपेक्षा के ही पात्र बन गये!

क्रोपाटकिन के अन्तिम दिनों की एक झांकी एमा गोल्डमैन के आत्म-चरित 'लिविंग माइ लाइफ' में मिलती है। उन्होंने लिखा है—"रूस पहुँचने पर मुझे कम्युनिस्टों ने बार-बार विश्वास दिलाया था कि क्रोपाटकिन तो बड़े आराम की ज़िन्दगी बसर कर रहे हैं और उन्हें न भोजन-वस्त्र की कमी है, न किसी अन्य वस्तु की। पर जब मैं क्रोपाटकिन के घर पहुँची तो मामला इसके विपरीत ही पाया। क्रोपाटकिन, उनकी पत्नी सोफी तथा लड़की एलैक्जेंडरा, तीनों एक कमरे में रहते थे और वह कमरा भी काफी गरम नहीं था तथा पास के कमरे इतने ठंडे थे कि उनका तापमान शून्य से भी नीचे था! उन्हें जो भोजन मिलता था वह बस जीवित रहने भर के लिए पर्याप्त था। जिस सहकारी समिति से उन्हें राशन मिलता था, वह टूट चुकी थी और उसके मेम्बर जेल भेज दिये गए थे। मैंने सोफी से पूछा—"गुज़र-बसर कैसे होती है?" उन्होंने उत्तर दिया—"हमारे पास एक गाय है और बगीचे में भी कुछ पैदा हो जाता है। साथी लोग बाहर से कुछ भेज देते हैं। अगर पीटर (क्रोपाटकिन) बीमार न होते और उन्हें अधिक पौष्टिक भोजन की जरूरत न होती तो हम लोगों का काम चल जाता।"

जार्ज लैन्सबरी इन्हीं दिनों रूस गये हुए थे। उन्होंने एमा गोल्डमैन से कहा था—"मुझे तो यह बात असंभव दीखती है कि सोवियत सरकार के उच्च पदाधिकारी क्रोपाटकिन जैसे महान् वैज्ञानिक को इस प्रकार भूखों मरने देंगे! हम लोग इंग्लैण्ड में तो इस प्रकार के अनाचार को असह्य समझेंगे।"

क्रोपाटकिन उन दिनों अपनी अन्तिम पुस्तक 'नीतिशास्त्र' लिख रहे थे। किताबों के खरीदने के लिए उनके पास पैसे नहीं थे। क्लार्क या टाइपिस्ट रखने की वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे; इसलिए अपने ग्रंथ की पाण्डु-लिपि उन्हें खुद ही तैयार करनी पड़ती थी। भोजन भी उन्हें पुष्टिकर नहीं मिल पाता था, जिससे उनकी कमजोरी बढ़ती जाती थी और एक धुँधले दीपक की रोशनी में उन्हें अपने ग्रंथ की रचना करनी पड़ती थी!

जब क्रोपाटकिन मरणासन्न हुए तो अवश्य लेनिन ने मास्को से सर्वश्रेष्ठ

डाक्टर और भोजन इत्यादि की सामग्री भेजी थी और यह आदेश भी दे दिया था कि क्रोपाटकिन के स्वास्थ्य के समाचार उनके पास बराबर भेजे जायं। जीवन के अन्तिम दिनों में जिसे दमघोंटू वातावरण में रहने के लिए मजबूर किया गया, उसकी मृत्यु के समय इतनी चिन्ता का अर्थ ही क्या हो सकता था ? ८ फरवरी, १९२१ को क्रोपाटकिन का देहान्त हो गया। लेनिन की सरकार ने सरकारी तौर पर उनकी अन्त्येष्टि करने का विचार प्रकट किया, जिसे उनकी पत्नी तथा साथी-संगियों ने तुरंत अस्वीकार कर दिया। अराजकवादियों के मजदूर संघ के भवन से उनके शव का जुलूस निकला, जिसमें २० हजार मजदूर थे। सर्दी इतने जोरों की थी कि बाजे तक बर्फ के कारण जम गये! लोग काले झंडे लिये हुए थे और चिल्ला रहे थे—"क्रोपाटकिन के संगी-साथियों को, अराजकवादी बन्धुओं को जेल से छोड़ो!"

सोवियत सरकार ने डिमिट्रोव का छोटा-सा घर क्रोपाटकिन की विधवा पत्नी को रहने के लिए और उनका मास्को वाला मकान क्रोपाटकिन के मित्रों तथा भक्तों को दे दिया, जहां उनके कागज-पत्र, चिट्ठियां तथा अन्य वस्तुएँ सुरक्षित रहीं। सोफी १९३० तक जीवित रहीं और क्रोपाटकिन के नाम पर स्थापित म्यूज़ियम की रक्षा करती रहीं। इसके बाद वह संग्रहालय भी छिन्न-भिन्न कर दिया गया। पर स्वाधीनता का यह अद्वितीय पुजारी युग-युगान्तर तक अमर रहेगा। उसका व्यक्तित्व हिमालय के सदृश महान और आदर्शवादिता गौरीशंकर शिखर की तरह उच्च है।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

सूची

●

क्रांति की भावना

: १ :

क्रांति की भावना

मानव-समाज के जीवन में ऐसे अवसर आया करते हैं, जब क्रान्ति एक अनिवार्य आवश्यकता हो जाती है, जब वह पुकार-पुकारकर कहती है कि वह अवश्यम्भावी है। हर तरफ नये विचार उत्पन्न हो जाते हैं, जो प्रकाश में आकर लोगों के जीवन में लागू होने के लिए जबर्दस्ती अपना मार्ग ढूंढ़ निकालते हैं। जिन लोगों का स्वार्थ पुरानी व्यवस्था को कायम रखने में ही सिद्ध होता है, उनकी अकर्मण्यता इन विचारों का विरोध करती है। पूर्व संस्कारों और लोक-परम्परागत रूढ़ियों के श्वासरोधक वातावरण में उन लोगों का दम घुटा करता है। राज-व्यवस्था के माने हुए विचार, सामाजिक सामंजस्य के नियम और नागरिकों के राजनैतिक तथा आर्थिक बातों में पारस्परिक व्यवहार——इनमें से कोई भी उस अशान्त समालोचना के आगे खड़े नहीं रह सकते, जो बैठकखाने में, सार्वजनिक अड्डों में, दार्शनिकों के लेखों में और रोज़मर्रा की बातचीत में उनकी जड़ काटा करती है। राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक संस्थाएं टूटने-फूटने लग जाती हैं। हमारा सामाजिक भवन एसी स्थिति में रहने योग्य नहीं रह जाता। वह उन अंकुरों को भी, जो उसकी टूटी दीवारों के भीतर या उनके चारों ओर उगते हैं, रोकता है——विकसित नहीं होने देता।

एक नये जीवन की आवश्यकता प्रत्यक्ष हो जाती है। प्रतिष्ठित नैतिकता के साधारण विधान, जो अबतक अधिकांश लोगों के जीवन को

परिचालित करते रहे हैं, अब पर्याप्त नहीं जान पड़ते। जो बात पहले उचित लगती थी, वह अब चिल्ला-चिल्लाकर अपना अनौचित्य प्रकट करती मालूम होती है। कल की नैतिकता आज असह्य अनीति दिखाई देती है। पुरानी रूढ़ियों और विचारों का संघर्ष समाज की प्रत्येक श्रेणी में, प्रत्येक अवस्था में और प्रत्येक कुटुम्ब के बीच प्रज्वलित हो उठता है। बेटा बाप से लड़ बैठता है। जो बात बाप को अपने सम्पूर्ण जीवन में बिलकुल स्वाभाविक ज्ञात होती रही है, वही बात बेटे को बीभत्स जान पड़ती है। पुराने अनुभव से जो बातें माताएं अपनी बेटियों को सिखाती हैं, बेटियां उनके विरुद्ध विद्रोह कर देती हैं। धनी और अधिकार-प्राप्त तथा चैन की बंशी बजानेवाली श्रेणियों में जो कलंक की बातें उत्पन्न हुआ करती हैं, शक्तिशालियों के कानून के नाम पर अथवा उनकी सुविधाओं की रक्षा के लिए जो जुर्म किये जाते हैं, सर्वसाधारण की आत्मा दिन-दिन उनके विरुद्ध होती जाती है। जो लोग न्याय की विजय के लिए लालायित रहते हैं अथवा जो लोग नवीन विचारों को काम में लाना चाहते हैं, उन्हें शीघ्र ही यह मालूम हो जाता है कि इस समय समाज जिस प्रकार संगठित है, उसमें उनके उद्धार, मनुष्यतापूर्ण और नवजीवन संचारक विचार सफल नहीं हो सकते। उन्हें क्रान्ति की एक ऐसी आंधी की आवश्यकता दिखलाई देने लगती है, जो समाज के समस्त सड़े-गले अंशों को उड़ा ले जाय, जो अपने पवित्र पवन से आलसी हृदयों में स्फूर्ति भर दे और मानव-समाज में श्रद्धा, आत्म-त्याग तथा वीरता के भावों का संचार कर दे, जिन भावों के बिना समाज पतन और दुर्गुणों में डूबकर बिलकुल छिन्न-भिन्न हो जाता है।

जब लोग धन कमाने के लिए पागलों की तरह उतावले हो जाते हैं, जब फाटकेबाज़ी का ज्वार-भाटा आता है, जब बड़े-बड़े व्यापारों का आकस्मिक पतन होता है, जब उत्पादन के अन्य अंशों का क्षणभंगुर प्रसार होता है, जब लोग दो-ही-चार वर्षों में अगणित धनराशि बटोर लेते हैं और उतनी ही शीघ्रता से उसे खो बैठते हैं, तब ऐसे अवसरों पर यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है कि हमारी आर्थिक संस्थाएं, जो उत्पादन और विनिमय का

नियन्त्रण करती हैं, समाज को सुख-समृद्धि देने से, जैसीकि उनसे आशा की जाती है, बहुत दूर हैं। वे उसका ठीक विपरीत फल पैदा करती हैं। वे शान्ति और सुव्यवस्था के स्थान में अशान्ति और गड़बड़ी उत्पन्न करती हैं, सुख-समृद्धि के स्थान में दरिद्रता और अरक्षा के भाव पैदा करती हैं, भिन्न-भिन्न स्वार्थों में मेल पैदा करने के स्थान में युद्ध उत्पन्न करती हैं। वे धन-शोषकों और मजदूरों में आपस ही में स्थायी युद्ध पैदा कर देती हैं। मानव-समाज दो प्रतिद्वन्द्वी भागों में विभक्त हो जाता है। साथ ही प्रत्येक भाग सहस्रों छोटे-छोटे भागों में विभाजित हो जाता है, जो आपस में निर्दयतापूर्ण संग्राम बराबर जारी रखते हैं। इन संग्रामों से ऊबकर तथा इन संग्रामों से उत्पन्न हुए दुःख-दैन्य से ऊबकर समाज कोई नई व्यवस्था ढूंढ़ निकालने के लिए दौड़ पड़ता है। वह सम्पत्ति के अधिकार के नियमों, उसके उत्पादन तथा विनिमय के नियमों और उनसे उत्पन्न होनेवाले आर्थिक सम्बन्धों को एकदम नये सिरे से ढालने के लिए जोर-जोर से पुकारने लगता है।

सरकार की मशीन, जिसपर वर्त्तमान व्यवस्था की रक्षा का भार होता है, अपना काम करती रहती है, परन्तु उसके घिसे हुए चक्कों के प्रत्येक चक्कर में वह फिसलकर बन्द होने लगती है। उसका चलना दिन-प्रतिदिन मुश्किल होता जाता है, जिससे उसके प्रति असंतोष बराबर बढ़ता जाता है। प्रतिदिन यही आवाज सुनाई देती है कि 'इसको दुरुस्त करो', 'इसको सुधारो'। सुधारकगण कहते हैं—"युद्ध, आर्थिक व्यवस्था, टैक्स, अदालतें, पुलिस—प्रत्येक वस्तु का नये सिद्धांतों के अनुसार पुनः संगठन करो, फिर से ढालो।" यह बात सभी जानते हैं कि चीजों को फिर से बनाना—अकेली किसी चीज को फिर से ढालना—असंभव है, क्योंकि समस्त वस्तुएँ एक-दूसरे से संबंधित हैं, अतः सभी वस्तुओं को एक साथ तोड़कर बनाना होगा। तब यह सवाल उठता है कि समाज का, जबकि वह दो विरोधी भागों में विभक्त है, पुनर्निर्माण कैसे किया जाय? असंतुष्ट लोगों को संतुष्ट करने से और भी नये असंतुष्ट पैदा हो जायंगे।

इस समय शासक-संस्थाओं की दशा बड़ी विचित्र होती है। वे सुधार करने में अशक्त होती हैं, क्योंकि खुल्लम-खुल्ला सुधार का अर्थ होता है क्रांति का रास्ता खोलना। साथ ही वे इतनी नपुंसक होती हैं कि वे खुल्लम-खुल्ला सुधारों का विरोध भी नहीं कर सकतीं। फल यह होता है कि वे मामूली-से सुधार करती हैं, जिनसे संतोष उत्पन्न होने के स्थान में और भी असंतोष बढ़ता है। ऐसे परिवर्तन के अवसरों पर प्रतिभाशून्य व्यक्तियों का, जिनके हाथ में राज्य-नौका का परिचालन होता है, एक ही उद्देश्य हुआ करता है। वह है भावी महान् उलट-पलट के पूर्व धन बटोरकर अपना घर भर लेना। चारों ओर से आक्रमण होने पर वे बड़े अनाड़ीपन से अपना बचाव करते हैं। वे इधर-उधर की टाल-मटोल और एक के बाद दूसरी भयंकर भूलें किया करते हैं। शीघ्र ही वे अपने बचाव की अन्तिम कड़ी को काट देते हैं। सरकारी लोगों की निजी अयोग्यता से सरकार की प्रतिष्ठा उपहास के जल में डूब जाती है।

ऐसे अवसरों पर क्रांति की आवश्यकता होती है। क्रांति एक सामाजिक आवश्यकता हो जाती है। ऐसे अवसर स्वयं ही क्रांतिकारी होते हैं।

जब हम बड़े-बड़े इतिहासकारों की पुस्तकें पढ़ते हैं तो उनमें मुख्य-मुख्य क्रांतिकारी विप्लवों की उत्पत्ति और विकास के वृत्तांतों में 'क्रांति के कारण' शीर्षक के अन्तर्गत क्रांति की घटनाओं के ठीक पूर्व का बड़ा रोमांचकारी वृत्तांत मिलता है। इन वृत्तांतों में लोगों की दुर्दशा, सर्वव्यापी संकट के भाव, सरकार को परेशान करनेवाले कानून-कायदे, समाज के बड़े-बड़े दुर्गुणों और कलंकों का नग्न भंडाफोड़, नये बिचारों के प्रचलित होने के लिए छटपटाहट और पुरानी व्यवस्थाओं के समर्थकों द्वारा उनका दमन, इत्यादि सभी बातें वर्णित होती हैं। इस चित्र को देखकर प्रत्येक मनुष्य को दृढ़ विश्वास हो जाता है कि इन अवसरों पर क्रांति सचमुच में अवश्यम्भावी थी। विप्लव को छोड़कर और कोई मार्ग ही नहीं था।

उदाहरण के लिए सन् १७८९ के पहले फ्रांस की दशा ले लीजिये। इतिहासकार उस दशा का कैसा वर्णन करते हैं! इतिहासकारों का वर्णन

पढ़कर आपको ऐसा मालूम होगा, मानो किसान लोग नमक के कर के विरुद्ध, दशांश-कर के विरुद्ध, और जमींदारों के लगान के विरुद्ध शिकायत कर रहे हैं, जिसकी आवाज आपके कानों में आ रही है। उस वृत्तांत को पढ़कर जान पड़ता है कि किसान लोग जमींदारों, महन्तों, एकाधिपत्य रखनेवाले व्यापारियों और सरकारी अहलकारों के विरुद्ध घृणा की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। आपको दिखाई देगा कि लोग अपने नागरिक अधिकारों के छिन जाने का रंज कर रहे हैं और बादशाह को गालियां दे रहे हैं। वे रानी को बुरा-भला कहते हैं, वे मंत्रियों की कार्रवाई पर विक्षुब्ध हैं और लगातार चिल्ला रहे हैं कि करों का बोझ असह्य है, मालगुज़ारी बहुत है, फसल की दशा बहुत खराब है, जाड़ा बहुत जोर का है, खाद्यसामग्री बहुत महंगी हो गई है, व्यापार का एकाधिपत्य रखनेवाले बड़े लालची हैं, ग्रामीण वकील किसानों की फसल खा जाते हैं, गांव का चौकीदार छोटा-मोटा नवाब बना बैठा है, यहां तक कि डाकखाने का इन्तज़ाम भी ठीक नहीं है और उसके कर्मचारी बड़े आलसी हैं। थोड़े शब्दों में यों कहिये कि प्रत्येक व्यक्ति को यही शिकायत है कि कोई भी चीज ठीक-ठीक काम नहीं करती। हर स्थान पर लोग यही कहते नजर आते हैं--"यह अधिक दिन नहीं चल सकता, इसका बड़ा भयानक अन्त होगा।"

परन्तु इन शांतिपूर्ण दलीलों और क्रांति या विप्लव के बीच एक बड़ी चौड़ी खाई है। यह वही खाई है जो अधिकांश मनुष्यों में कहने और करने में या विचार और इच्छा में हुआ करती है। परन्तु यह खाई कैसे भरती है ? यह कैसे संभव है कि जो लोग कलतक शांतिपूर्वक हुक्का पीते समय अपने दुर्भाग्य पर झींका करते थे और स्थानीय पटवारी और दारोगा को गालियां दिया करते थे, परन्तु दूसरे ही क्षण उन्हीं पटवारी और दारोगा को अदब से झुककर सलाम किया करते थे--यह कैसे संभव है कि वे ही आदमी दो-चार दिन बाद इस योग्य हो गए कि वे अपने हँसिये और धारदार गंड़ासे लेकर उन्हीं प्रभुओं के किलों पर, जो केवल एक दिन पहले ऐसे भयंकर दिखाई देते थे, हमला करने लगें ! जिन लोगों की पत्नियां उन्हें कायर

कहा करती थीं, वे ही एक दिन में ऐसे वीर बन गए कि गोलों की वर्षा और गोलियों की बौछार में घुसकर अपने अधिकारों को जीतने के लिए कदम बढ़ाने लगे। यह किस जादू के बल पर हुआ ? शब्द जो मुख से निकलकर हवा में विलीन हो जाया करते थे, कार्य में कैसे परिणत हो गए ?

इसका उत्तर बहुत सहज है।

कर्म---अल्पांश लोगों का अविरल, अविश्राम कर्म ही ऐसे परिवर्तन ला देता है। साहस, लगन और त्याग की भावना, ऐसी ही संक्रामक वस्तुएँ हैं, जैसी कायरता, अधीनता और आतंक।

यह कर्म क्या रूप धारण करेगा ? यह प्रत्येक रूप धारण कर सकता है। वास्तव में परिस्थिति, स्वभाव और उपलब्ध उपायों के अनुसार, इस कर्म के बड़े विभिन्न रूप हुआ करते हैं। कभी इस कर्म का रूप दुःखान्त होता है तो कभी हास्यास्पद। लेकिन वह रूप सदा बड़ा दुस्साहसिक हुआ करता है। यह कर्म कभी सामूहिक रूप धारण करता है, कभी केवल व्यक्तिगत। कर्म की यह नीति किसी भी उपलब्ध उपाय को नहीं भूलती। असंतोष फैलाने या उसे प्रकट करने में, शोषणकारियों के प्रति घृणा उत्पन्न करने में, सरकार की कमजोरियों का पर्दाफाश करने तथा उसका मज़ाक उड़ाने में, और सबसे अधिक, बास्तविक दृष्टांतों के द्वारा लोगों के साहस को जागृत करने तथा उनमें क्रांति की भावना फैलाने के लिए कर्म की यह नीति किसी भी सार्वजनिक घटना को नहीं छोड़ती।

लोगों में खुल्लम-खुल्ला विप्लव करने और सड़कों आदि में उग्र प्रदर्शन करने का साहस उत्पन्न होने के पूर्व, किसी देश में जो क्रांतिकारी परिस्थिति उत्पन्न हुआ करती है, वह कुछ अल्पसंख्यक लोगों के कर्म का नतीजा है। यह अल्पसंख्यक लोग अपने कर्मों से लोगों में स्वतंत्रता और साहस के उन भावों को उत्पन्न कर देते हैं, जिनके बिना कोई भी क्रांति आगे नहीं बढ़ सकती।

क्रांति में सर्व-साधारण पहले भाग नहीं लेते। साहसी पुरुष, जो कोरे शब्दों से कभी संतुष्ट नहीं होते और सदा उन शब्दों को कार्य में परिणत करने

का अवसर ढूंढ़ा करते हैं; ईमानदार एवं न्यायनिष्ठ व्यक्ति, जिनकी मनसा, वाचा, कर्मणा, एक ही धुन है तथा जो अपने सिद्धांतों के विरुद्ध चलने की अपेक्षा जेल, निर्वासन और मृत्यु को अधिक पसंद करते हैं; और निर्भीक आत्माएँ, जो यह जानती हैं कि सफलता के लिए हिम्मत करना जरूरी है— ये तीनों ही क्रांति के एकाकी सैनिक हैं जो सबसे पहले समर-भूमि में कूदते हैं। इनके कूदने के बहुत पीछे सर्व-साधारण में इतनी जागृति उत्पन्न होती है कि वे खुल्लम-खुल्ला क्रांति का झंडा उठा कर अपने स्वत्वों की प्राप्ति के लिए हथियार ग्रहण करके अग्रसर हों।

इस समस्त असंतोष, बातचीत और सिद्धांतों के वाद-विवाद के बीच में किसी एक व्यक्ति का अथवा समूह का कोई क्रांतिकारी कार्य उठ खड़ा होता है, जो लोगों की प्रबल उच्चाकांक्षाओं को मूर्त्तिमान बना देता है। संभव है कि आरम्भ में सर्व-साधारण उस काम से बिल्कुल उदासीन रहें। विचक्षण और सचेत लोग तुरन्त ही ऐसे कामों को 'पागलपन' कह देते हैं। वे कहते हैं— "ये पागल लोग, ये उन्मत्त व्यक्ति, प्रत्येक चीज को संकट में डाल देंगे।" इसलिए यह भी सम्भव है कि आरम्भ में सर्व-साधारण इन विचक्षण पुरुषों ही का अनुगमन करें।

ये विचक्षण और सतर्क व्यक्ति खूब हिसाब लगाया करते हैं। वे हिसाब लगाते हैं कि सौ, दो सौ या तीन सौ वर्षों में उनकी पार्टी संसार भर को जीत लेगी, लेकिन बीच ही में यह अप्रत्याशित घटना घुस पड़ती है। अवश्य ही उन विचक्षण व्यक्तियों को जिस बात की आशा नहीं होती, उसीको वे अप्रत्याशित समझते हैं। जिस किसी को भी इतिहास का थोड़ा भी ज्ञान और साधारण बुद्धि है, वह यह बात भली-भाँति जानता है कि क्रांति के सिद्धांतों का प्रोपेगेण्डा एक-न-एक दिन कार्य-रूप में अवश्य ही प्रकट हो जाता है। यह दिन सिद्धांतवादियों के सोचे हुए कार्य करने के दिन से बहुत पहले ही आ जाता है। जो हो, ये सचेत सिद्धांतवादी इन पागलों पर खूब बिगड़ते हैं। वे उन्हें जाति से बाहर कर देते हैं और कोसा करते हैं, मगर ये पागल आदमी लोगों की सहानुभूति प्राप्त कर लेते हैं। सर्व-साधारण

छिपे-छिपे उनके साहस की प्रशंसा करते हैं। इन पागलों की नकल करने-वाले लोग पैदा हो जाते हैं। जिस संख्या में क्रांति के अग्रणी लोग जेलों और कालेपानी आदि को जाते हैं, उसीके अनुपात में अन्य लोग उनका कार्य जारी रखते हैं। अवैध प्रतिवाद, विप्लव और प्रतिहिंसा के कार्य बढ़ते चले जाते हैं।

अब ऐसी स्थिति पहुँच जाती है कि जब उदासीनता असंभव हो जाती है। जिन लोगों ने आरम्भ में कभी यह पूछने का कष्ट भी नहीं उठाया कि 'ये पागल आदमी क्या चाहते हैं, उन्हें भी मजबूर होकर इन पागलों की चिन्ता करनी पड़ती है। उन्हें उनके विचारों पर बहस करनी पड़ती है और उनके अनुकूल या प्रतिकूल पक्ष ग्रहण करना पड़ता है। ऐसे कार्यों के द्वारा जिनसे लोगों का ध्यान ख्वामख्वाह आर्कार्षित होता है, नये विचार लोगों के दिलों में घर करते हैं,और नये अनुयायी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार का एक कार्य जितना प्रोपेगेण्डा कर देता है, उतना हजारों परचों से नहीं होता।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह लोगों में क्रांति की भावना उत्पन्न करता है और वह उनमें दुस्साहस का अंकुर उगाता है। पुरानी व्यवस्था (सर-कार) अपनी पुलिस, अपने मजिस्ट्रेट और अपनी फौज-फाटे के बल पर एकदम अचल और अजेय दिखाई पड़ती थी। वह ऐसी अचल और अभेद्य दिखाई पड़ती थी, जैसे बेसतिले का दुर्ग उस निःशस्त्र जन-समूह को अभेद्य दिखाई देता था, जो उसकी तोपें चढ़ी हुई ऊंची दीवारों के नीचे एकत्रित हुआ था, मगर शीघ्र ही यह मालूम पड़ जाता है कि मौजूदा सरकार में वह शक्ति नहीं है, जिसकी लोग कल्पना करते थे। केवल एक ही साहसिक कार्य सरकार की संपूर्ण मशीन को दो-ही-चार दिन में उलट-पुलट डालने के लिए काफी हुआ। सरकार का भारी-भरकम भवन कांपने लगा। एक अन्य विप्लव में एक समूचे सूबे में गदर मच गया। सरकारी फौज ने, जो अबतक बड़ी प्रभावो-त्पादिनी दीख पड़ती थी, केवल एक मुट्ठी भर किसानों के सामने जिनके पास केवल डंडे और पत्थर थे, पीठ फेर दी। लोगों ने देखा कि दैत्य उतना भयंकर नहीं है, जितना वे समझते थे। उन्हें यह भी अस्पष्ट-सा दीखने लगा कि इस

प्रकार की दो-चार साहस-पूर्ण चेष्टाएँ इस दैत्य को मार गिरायेंगी। अब लोगों के मन में आशा उत्पन्न होती है। यह बात भूल न जानी चाहिए कि क्रोध और क्षोभ लोगों को क्रांति की ओर ले जाता है और आशा—विजय की आशा—ही सदा क्रांतियाँ कराया करती है।

सरकार इसका विरोध करती है, वह दमन करने के लिए पागल हो उठती है, मगर जहाँ पहले सरकार का दमन अत्याचार-पीड़ितों की शक्ति को नष्ट कर देता था, अब सनसनीसूर्ण अवसरों पर वह एकदम विपरीत फल पैदा करता है। अब दमन से क्रांति के अन्य कार्यों—व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों ही—को प्रोत्साहन मिलता है। अब उससे विद्रोही लोग वीरता की ओर अग्रसर होते हैं। इस प्रकार क्रांतिकारी घटनाएँ बड़ी शीघ्रता से एक के बाद दूसरी घटती हैं, वे सर्वव्यापी हो जाती हैं और उनका विकास होता है। जो लोग अबतक क्रांति के विरोधी और उदासीन थे, वे अब उसमें सम्मिलित हो जाते हैं, जिनसे वह और भी मजबूत हो जाती है। यह सर्वव्यापी गड़बड़ी सरकार में और शासक तथा अधिकार-प्राप्त श्रेणियों में भी घुस जाती है। उनमें से कुछ लोग इस बात का उपदेश देते हैं कि दमन को अन्तिम सीमा तक चलाना चाहिए, दूसरे लोग कुछ रियायतें करने के पक्ष में होते हैं और अन्य कुछ लोग इस आशा में अपने अधिकार भी त्यागने की घोषणा करते हैं कि लोगों के क्रांति के भावों को शांत करके वे फिर उनपर प्रभुत्व प्राप्त कर लेंगे। सरकार और अधिकार-प्राप्त लोगों की एकता भी टूट जाती है।

शासक वर्ग भयंकर प्रतिक्रिया द्वारा (अर्थात् लोगों के मौजूदा अधिकारों को भी छीनकर) भी अपनी रक्षा करने की चेष्टा करते हैं। मगर अब इतनी अधिक देर हो चुकी है कि ये सब बातें बेकार होती हैं। इससे संघर्ष और भी अधिक कटु और भयंकर हो जाता है इनके सामने दिखाई पड़ने वाली क्रांति और भी अधिक खूनी हो जाती है। इसके विरुद्ध शासक-वर्ग जो छोटी-से-छोटी रियायत भी करते हैं, तो उससे क्रांति के भाव और भी अधिक जाग उठते हैं, क्योंकि यह रियायत बहुत देर में की जाती है और लोग यह समझते हैं कि उन्होंने इसे लड़ाई में जीता है। साधारण लोग, जो पहले छोटी-से-छोटी

रियायत पर ही संतुष्ट हो जाते, अब प्रत्यक्ष देखने लगते हैं कि उनके शत्रु के पैर उखड़ रहे हैं, उन्हें अपनी विजय दिखाई पड़ने लगती है। उन्हें अनुभव होता है कि उनका साहस बढ़ रहा है। जो आदमी पहले दुःख-दारिद्रय के नीचे पिसे हुए थे, और चुपके-चुपके ठंडी सांसें भरकर ही चुप रह जाते थे, वे ही अब गर्व के साथ सर ऊँचा उठाकर सुन्दर भविष्य की विजय के लिए निकल पड़ते हैं।

अन्त में क्रांति जागृत हो उठती है। उससे पहले का संघर्ष जितना ही अधिक भयानक और कड़ुवा होता है, क्रांति भी उतनी ही भयानक और कड़ुवी होती है।

क्रांति कौन-सा रुख धारण करेगी, यह बात निस्संदेह उन घटनाओं के समूह पर निर्भर करती है, जो इस विप्लव की बाढ़ के आगमन को निश्चय करते हैं। मगर एक बात पहले से ही कही जा सकती है कि वह उन क्रांतिकारी कार्यों के जोर के अनुसार होती है, जो विभिन्न प्रगतिशील दल क्रांति की तैयारी के प्रारम्भ पर दिखलाया करते हैं।

कोई पार्टी अपने सिद्धान्तों को खूब अच्छी तरह प्रकट करती है। वह एक कार्यक्रम भी पेश करती है, जिसे पूरा करने की उसकी इच्छा है। वह उनके लिए भाषणों और परचों आदि के द्वारा खूब जोरदार प्रचार भी करती है, मगर यदि उसने अपने विचारों को कार्यों द्वारा खुल्लम-खुल्ला खुलेआम प्रकट नहीं किया; यदि उसने अपने प्रधान शत्रुओं के विरुद्ध कुछ नहीं किया; यदि उसने उन संस्थाओं पर आक्रमण नहीं किया, जिन्हें वह नष्ट करना चाहती है; यदि उसका बल केवल उसके सिद्धांतों ही में परिमित है—क्रिया में नहीं; यदि उसने क्रांति के भाव उत्पन्न करने में कुछ सहायता नहीं दी; अथवा यदि उसने उन भावों को उन बातों के विरुद्ध नहीं फैलाया, जिनपर वह क्रांति के समय आक्रमण करना चाहती है, तो वह पार्टी बहुत कम प्रसिद्ध होती है, क्योंकि उस दल की आकांक्षाएं रोजमर्रा के क्रांतिकारी कार्यों के रूप में प्रकट नहीं हुई हैं और इन क्रांतिकारी कार्यों का ही प्रकाश दूर-दूर की झोंपड़ियों तक नहीं पहुंचता है। वह पार्टी इसलिए प्रसिद्ध नहीं

होती कि वह सड़क पर इकट्ठी होनेवाली भीड़ में नहीं घुलती-मिलती, क्योंकि वह लोक की लोकप्रिय पुकारों में अपने को प्रकट नहीं करती।

इस पार्टी के सबसे चलते-पुर्ज़े लेखकों को उनके पाठक यही समझते हैं कि वे ऊँची श्रेणी के विचारशील विद्वान हैं, मगर उनमें न तो काम करने वाले व्यक्तियों की-सी योग्यता है और न उनकी-सी इज्जत। जिस दिन क्रांति भड़क उठती है, उस दिन सर्व-साधारण इन बड़े-बड़े सिद्धान्तवादियों का अनुगमन न करके, उन लोगों की सलाह के अनुसार चलते हैं, जिनके सिद्धान्त तो इतने प्रसिद्ध नहीं हैं, परन्तु जिनको उन्होंने कार्य करते देखा है।

जिस दिन काम करने का दिन आता है, जिस दिन सर्व-साधारण क्रान्ति के लिए धावा बोलता है, उस दिन उस पार्टी की बात सबसे अधिक सुनी जाती है, जिसने सबसे अधिक हिम्मत और दुस्साहस दिखाया है। मगर जिस पार्टी में इतना साहस नहीं है कि वह अपने विचारों को क्रांतिकारी तैयारी के जमाने में क्रांतिकारी कार्यों द्वारा प्रकट करती, जिस पार्टी में व्यक्तियों को तथा जन-समूहों को प्रोत्साहित करने और आत्म-त्याग के भावों से उन्हें प्रेरित करने की शक्ति नहीं है, जिस पार्टी में यह ताकत नहीं है कि वह लोगों में अपने विचारों को कार्य-रूप में प्रेरित करने के लिए अदम्य इच्छा उत्पन्न कर सके (यदि यह इच्छा उन लोगों में पहले से उत्पन्न होती, तो वह जन-साधारण के क्रांति में सम्मिलित होने के पहले ही कार्य-रूप में परिणत हो गई होती), जो पार्टी यह नहीं जानती कि वह अपने झण्डे को लोकप्रिय कैसे बनावे या अपनी इच्छाओं को किस प्रकार दूसरों पर प्रकट करके समझा सके, ऐसी पार्टी को अपना कार्यक्रम पूरा करने की बहुत-ही थोड़ी आशा है। देश के क्रियाशील दल उसे ढकेलकर एक ओर डाल देंगे।

ये सब बातें हमें क्रांति के पूर्ववर्ती समय के इतिहास से मालूम होती हैं। फ्रांस के राजतंत्र को नष्ट करने के पूर्व वहां के मध्यम श्रेणी के क्रांतिकारी इन बातों को अच्छी तरह समझते थे और उन्होंने एकतन्त्री शासन के विरुद्ध क्रांति की भावना को जाग्रत करने के लिए कोई उपाय उठा नहीं रखा। अठारहवीं सदी के फ्रांसीसी किसान जमींदारों के अधिकार

उठा देने के प्रश्न के अवसर पर इन्हें मन-ही-मन समझते थे और जब इन्टर-नेशनल ने शहर के मजदूरों में, मजदूरी करनेवाले के स्वाभाविक शत्रुओं अर्थात् पूँजीपतियों के, जिनके हाथ में उत्पादन और कच्चे माल का एकाधिपत्य है, विरुद्ध क्रांति के भाव उत्पन्न करने की चेष्टा की, तब उसने भी इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार ही कार्य किया।

: २ :

क्रांतिकारी सरकार

आज की मौजूदा सरकारें बिल्कुल खत्म कर दी जायं, ताकि स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व केवल खोखले शब्द-मात्र न रहकर वास्तविक रूप धारण कर सकें। अबतक जितनी भी तरह की सरकारें बनाई गई हैं, वे केवल अत्याचार करने का एक नया ढोंग साबित हुई हैं और इसलिए उन सबके बजाय समूहों का एक नवीन संगठन कायम किया जाय——इन बातों से कोई भी आदमी, जिसमें थोड़ी-सी भी अक्ल और अल्प मात्रा में भी क्रांति की भावना विद्यमान हो, इन्कार नहीं करेगा। इन निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए आदमी को बहुत बुद्धिमान होने की जरूरत नहीं। कोई भी आदमी आँखें खोलकर स्पष्ट देख सकता है कि आजकल की सब सरकारें दोषपूर्ण हैं और उनमें सुधार करना असंभव है। जहांतक सरकारों के उलटने का सवाल है, सबको मालूम है कि यह काम विशेष समय पर आसानी से किया जा सकता है। कभी-कभी तो ऐसे मौके आ जाते हैं जब क्रांतिकारी जन-समूहों की एक आवाज के पहले ही सरकारें बताशे के महलों की तरह अपने आप ही ढह जाती हैं।

सरकार को उलट देना—मध्य वर्ग के क्रांतिकारियों का बस यही अन्तिम उद्देश्य है; पर हमारे लिए तो वह सामाजिक क्रांति की सिर्फ शुरुआत है।

जहां एक दफा शासन की मशीन बिगड़ी, अधिकारी-वर्ग अस्त-व्यस्त होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया और सिपाहियों का अपने अफसरों से विश्वास उठ गया। एक शब्द में, जब एकबार सरमायेदारों की सारी सेना नष्ट कर दी गई, तब हमारा महान् विनाशकारी कार्य प्रारम्भ होगा—यानी उन सब व्यवस्थाओं को तहस-नहस कर देना, जो राजनैतिक और आर्थिक गुलामी की जंजीरों को मजबूत किये हुए थीं। एक दफा जब हमें कार्य करने की स्वतंत्रता मिल गई हो तब क्रांतिकारियों का अगला कदम क्या होना चाहिए ?

इस प्रश्न का उचित उत्तर केवल अराजकवाद ही देता है—"कोई सरकार नहीं।" बाकी सब लोग कहते हैं—"क्रांतिकारी सरकार"—और उनमें आपस में भेद केवल शासन की व्यवस्था-विशेष के ऊपर है। उनमें से कुछ कहते हैं कि राज्य का शासन-प्रबन्ध बालिग मताधिकार द्वारा चुने हुए व्यक्तियों के हाथ में हो, जबकि दूसरे लोग क्रांतिकारी तानाशाही के पक्ष में हैं।

क्रांतिकारी सरकार ! जो लोग सामाजिक क्रांति और सरकार के वास्तविक अर्थों को जानते हैं, उनको ये दो शब्द साथ-साथ बड़े अजीब जँचते हैं। असल में ये दोनों परस्पर-विरोधी और एक-दूसरे के लिए घातक हैं। 'स्वेच्छाचारी सरकारें' हमने बहुत देखी हैं—सरकार का तो मतलब ही यह है कि वह क्रांति के विरोध में प्रतिक्रियात्मक शक्तियों का साथ दे और स्वेच्छाचारिता की ओर बढ़ती रहे। लेकिन 'क्रांतिकारी सरकार' जैसी कोई चीज तो अभी तक हमारे देखने में नहीं आई। और उसका कारण स्पष्ट है कि क्रांति का मतलब है हिंसा द्वारा पूंजी और वर्गों की मौजूदा व्यवस्था को उखाड़ फेंकना और नैतिक धारणाओं को बदल डालना—और ये ही चीजें हैं जो 'सरकार' की बिलकुल विरोधी और विपरीत हैं, क्योंकि सरकार के पर्याय हैं 'स्थापित व्यवस्था' और 'पुरातनवाद'; यानी आज की मौजूदा व्यवस्था को कायम रखना और स्वाधीनतापूर्वक कार्य करने की प्रवृत्ति और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का नितान्त अभाव। फिर भी हम लोग इस सींगवाले खरगोश की बात सुनते चले आ रहे हैं, मानो 'क्रांतिकारी सरकार'

ऐसी ही आसान और सामान्य चीज हो—जैसी राजसत्ता, साम्राज्य और पोपडम !

यह कोई अचम्भे की बात नहीं कि मध्यवर्ग के तथा-कथित क्रांतिकारी ऐसा कहते हैं। हम लोग भली-भांति जानते हैं कि क्रांति से उनका मतलब क्या है। उनका मतलब है अपने प्रजातंत्र राज्य को सहारा देना और उनका उद्देश्य उन ऊँचे-ऊँचे पदों को हथियाना है जो अबतक राजभक्तों के हाथों में थे। हद हुई तो उनका क्रांति से मतलब होगा राज्य और धर्म का गठबंधन तोड़कर एक को दूसरे की रखैल बना देना—यानी धर्म की संपत्ति को राज्य को सौंप देना। अन्त में इसका मतलब होगा इसी संपत्ति का भावी शासकों द्वारा अपने फायदे के लिए इस्तेमाल। शायद वे जनमत-संग्रह या और कोई इसी तरह की भी बात कहते हों, लेकिन क्रांतिकारी समाजवादी भी ऐसे विचारों के प्रतिपादक हो सकते हैं—इसके केवल दो ही कारण हो सकते हैं—या तो उन्होंने अपने दिमागों में इकतरफा विचार—बिना उनको पूरी तरह समझे हुए—साहित्य से अथवा उस इतिहास से जो मध्यवर्ग के विचारों की हां-में-हां मिलाने के लिए लिखा जाता है—भर लिये हैं—या वास्तव में वे क्रांति चाहते ही नहीं, बावजूद इसके कि बातचीत वे उसीकी करते रहते हैं। वे मौजूदा व्यवस्थाओं की सिर्फ ऊपरी लीपापोती से संतुष्ट हो जायंगे, बशर्ते कि सत्ता उनके हाथ में आ जाय। फिर वे मनुष्य-रूपी जानवर को भविष्य में संतुष्ट कर लेंगे। वे आजकल शासकों का विरोध इसलिए करते हैं कि उनकी जगह खुद ले सकें। इन लोगों के साथ हम बहस नहीं करना चाहते। इसलिए हम उन्हींसे कहेंगे, जो ईमानदारी के साथ भ्रम में फँसे हुए हैं।

प्रारम्भ में हम क्रांतिकारी सरकार के प्रथम रूप को लें, जिसे निर्वाचित सरकार कहते हैं।

हम मान लेते हैं कि बादशाह की ताकत अभी हाल ही में उलट दी गई है और पूंजी के पक्षपातियों की फौज परास्त हो गई है। हर जगह जोश है, सार्वजनिक कार्यों की चर्चा है और आगे बढ़ने की इच्छा भी। नये-नये विचार आग

आ रहे हैं। बड़े-बड़े परिवर्तनों की जरूरत महसूस हो रही है। आवश्यकता है तुरन्त कुछ करने की, ताकि नई ज़िन्दगी शुरू की जा सके। लेकिन वे इस समय कर क्या रहे हैं ? चुनाव के लिए जनता का आह्वान ! फिर वे तुरन्त ही एक सरकार निर्वाचित करके उसको सब काम सौंपेंगे, वे काम जो हम सब-को––प्रत्येक को––अपनी स्वेच्छा से करने चाहिए।

यही तो पेरिस में १८ मार्च, १८७१ के बाद हुआ था। हमारे एक मित्र ने हमें सुनाया था, "मैं आज़ादी के उन सुखप्रद क्षणों को कभी नहीं भूलूंगा। पेरिस के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक की भारी भीड़ में शामिल होने के लिए मैं भी अपने कमरे से नीचे उतर आया था। प्रत्येक व्यक्ति सार्वजनिक कार्यों की चर्चा कर रहा था। व्यक्तिगत झंझटों और निजी कार्यों को सब भूल गए थे––खरीद-फरोख्त की कोई सोचता भी न था––सब भविष्य की ओर बढ़ने को तन-मन-आत्मा से उत्सुक और लालायित थे। इस सार्वजनिक जोश की लहर में मध्यवर्ग के आदमी भी बह गए थे और एक नई दुनिया को देख कर प्रसन्न थे। वे सब कह रहे थे––'अगर सामाजिक क्रांति करना ही है, तो तुरन्त कर दीजिये––संपूर्ण संपत्ति सार्वजनिक कर दीजिये––हम सब तैयार हैं।' क्रांति के सब सरंजाम वहां मौजूद थे, जरूरत थी सिर्फ उन्हें काम पर लगाने की। जब मैं रात को घर लौट कर आया तो मैंने सोचा––'आखिर मानव-समाज कितना सुन्दर है ! हम उसे जानते ही न थे। अबतक तो उस-की निन्दा ही हुई है।' उसके बाद हुए चुनाव। कम्यून के मेम्बर चुने गए और फिर धीरे-धीरे सारा उत्साह और कार्य करने की इच्छा बिल्कुल समाप्त हो गई। हरएक आदमी अपने नित्य-प्रति के झंझटों में यह कहकर व्यस्त हो गया––'हमारे ऊपर अब ईमानदार सरकार है। हमारे बजाय वह काम करेगी।' उसके बाद जो कुछ हुआ वह सबको मालूम है।"

बजाय इसके कि जनता खुद कुछ करती, आगे बढ़ती और एक नवीन व्यवस्था की ओर कदम बढ़ाती, उसने अपने शासकों पर विश्वास करके उन्हें स्वेच्छापूर्वक कार्य करने का अधिकार सौंप दिया। चुनावों का यह पहला अनिवार्य नतीजा था। अब हम देखें कि उन शासकों ने क्या किया, जिन्हें

सबने विश्वास करके गद्दी पर बिठला दिया था।

कम्यून के विरोधी भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि मार्च १८७१ के चुनाव अभूतपूर्व ईमानदारी से हुए थे। आम जनता ने अपने सर्वश्रेष्ठ आदमी और वास्तविक क्रांतिकारियों को चुनने के लिए इतना उत्साह कभी नहीं प्रदर्शित किया था। सब प्रसिद्ध क्रांतिकारी भारी बहुमत से निर्वाचित हुए--जॉकोबिन्स, ब्लैंकिस्टसे, इण्टरनेशनलिस्ट--तीनों क्रांतिकारी पार्टियों के प्रतिनिधि कम्यून की कौंसिल में चुने गये थे। किसी चुनाव में इससे बेहतर सरकार आ ही नहीं सकती थी।

लेकिन इन सबका नतीजा क्या निकला ? इन्हें नागरिक भवन के भीतर बैठकर पुरानी सरकारों द्वारा स्थापित व्यवस्थाओं के अनुसार काम करना पड़ा और उस वक्त इन उत्साही क्रांतिकारियों और सुधारकों को अपना नपुं-सकत्व और अपनी लाचारी महसूस हूई। बावजूद उनकी हिम्मत और उनके पीछे जनता की सद्भावना के, वे पेरिस की रक्षा का भी प्रबन्ध नहीं कर सके। अब आदमी इसके लिए उन व्यक्तियों को दोष देते हैं; लेकिन वास्तव में दोष उन व्यक्तियों का नहीं था, बल्कि उस प्रणाली का था।

वास्तव में बालिग मताधिकार द्वारा चुनाव ईमानदारी से हो, तो हद-से-हद ऐसे आदमी चुने जा सकते हैं, जो जनता के औसत आदमी की तत्कालीन राय का प्रतिनिधित्व करते हों। विप्लव के प्रारम्भ में इस औसत आदमी के दिमाग में अपने उद्देश्य की बहुत ही अस्पष्ट रूप-रेखा रहती है और उसको कार्यान्वित करने के तरीके के बारे में वह बिल्कुल अनभिज्ञ रहता है। काश ! राष्ट्र अथवा कम्यून का बहुमत आन्दोलन के पहले केवल इस बात को समझ पाता कि शासन-व्यवस्था को उलटने के बाद क्या करना है ! अगर सरकारों में विश्वास रखनेवालों की उन स्वप्न-दर्शियों की यह कल्पना सच हो जाती, तो कभी भी खूनी क्रांति होती ही नहीं ! उस स्थिति में जहां राष्ट्र की अधिकांश जनता अपने इरादों को प्रकट कर देती, बस बाकी लोग खुशी से उसे मान लेते। लेकिन ऐसा होता नहीं, घटनाएं इस तरह घटती नहीं। आम जनता के स्थिति को पूरी तरह

समझने के पूर्व ही क्रांति हो जाती है और जिन व्यक्तियों को भली-भांति मालूम है कि उसके बाद क्या होना चाहिए, वे बहुत ही अल्पसंख्यक होते हैं। जन-साधारण के मस्तिष्क में तो अबतक केवल अपने मनोवांछित उद्देश्य की साधारण रूप-रेखा ही रहती है। न उनको यह मालूम होता है कि लक्ष्य की ओर आगे कैसे बढ़ें और न उनको उस दिशा में ही विश्वास होता है। व्यावहारिक हल तबतक नहीं मिल पाता और स्पष्ट हो पाता, जबतक कि परिवर्तन प्रारम्भ नहीं हो जाता। वह हल तो क्रांति की उपज होगा, उसे कार्यशील जनता ही खोजेगी और अगर ऐसा नहीं हुआ तो वह हल बिल्कुल निरर्थक होगा——थोड़े-से व्यक्तियों के मस्तिष्क इस प्रयत्न में हमेशा नितांत असफल रहेंगे, ऐसा हल तो केवल जनता के जीवन से ही उद्भूत हो सकता है।

बालिग मताधिकार में जो स्वाभाविक बुराइयां हैं, उन्हें यदि दूर भी कर दिया जाय तो भी उसके द्वारा चुने हुए व्यक्तियों की यही उपर्युक्त स्थिति होगी। वे अपनेको इसी हालत में पायंगे, थोड़े-से व्यक्ति जो इस समय की क्रांतिकारी भावनाओं के सच्चे प्रतिनिधि हैं, अपनेको उन आदमियों के बीच में बिलकुल दबा हुआ पायंगे जो भूतकाल के क्रांतिकारी विचारों और मौजूदा व्यवस्था के प्रतिनिधि हैं। ये सच्चे क्रांतिकारी, जिनकी उपस्थिति जनता के बीच में अत्यन्त आवश्यक है, खासकर क्रांति के मौके पर, जनता को आन्दोलित करने के लिए और पुरानी व्यवस्थाओं को नष्ट करने के लिए आज अपनेको सभा भवन के अन्दर बन्द पाते हैं! और वहां वे करते क्या रहते हैं? नरम दलवालों से कुछ सुविधाएं प्राप्त करने के लिए निष्फल बहस और अपने दुश्मनों को अपने मत का बनाने का असफल प्रयत्न! जबकि उन लोगों द्वारा नवीन विचारों को ग्रहण कराने का केवल एक ही रास्ता है, यानी उन विचारों को कार्य-रूप में परिणत कर देना। इस तरह यह सरकार एक विधान मण्डल मात्र रह जाती है और उसमें मध्यवर्ग के विधान मण्डल की सभी बुराइयां घुस बैठती हैं। क्रांतिकारी सरकार बनने के बजाय वह उल्टी

क्रांति के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा बन जाती है और अंत में जनता को उसे हटाने के लिए मजबूर होना पड़ता है। इस प्रकार उन व्यक्तियों को ही पदच्युत करना पड़ता है, जिन्हें वे कलतक अपना प्रतिनिधि मानने में गौरव अनुभव कर रहे थे!

लेकिन उन्हें हटाना इतना आसान नहीं होता। नई सरकार, जिसने शीघ्रता से एक नवीन शासन-व्यवस्था कायम कर ली है, ताकि वह अपना प्रभुत्व बढ़ा सके और अपनी आज्ञाएं पालन करा सके, आसानी से हटना नहीं जानती। वह अपनी प्रभुता को बनाये रखने के लिए अत्यन्त उत्सुक होने के कारण उससे चिपट जाती है; और इसमें उसे शक्ति मिलती है उस बड़ी संस्था—राज्य—से जो अभीतक बिल्कुल नष्ट नहीं हुई। वह सरकार जनता की शक्ति का मुकाबला करने की ठान लेती है और उस हालत में उसे हटाने का केवल एक तरीका रह जाता है—यानी हथियारों की मदद से दूसरी क्रांति कर दी जाय और उन्हीं व्यक्तियों को उखाड़ फेंका जाय, जिनपर जनता ने आशाएं बांध रक्खी थीं।

अब आप देखते हैं कि क्रांतिकारी दल में ही फूट पड़ गई! वैसे ही देरी करके बहुत-सा बहुमूल्य समय नष्ट हो चुका था, अब क्रांति की शक्ति उन आपसी झगड़ों में नष्ट होने लगती है जो नये शासन के समर्थकों और विरोधियों में चलते हैं। यह सब हुआ क्यों? क्योंकि हमने इस तथ्य को नहीं समझा कि नई जिन्दगी के लिए एक नवीन व्यवस्था की आवश्यकता होती है और पुरानी संस्थाओं से चिपके रहने से क्रांति असम्भव है; और क्योंकि यह बात हमारी अक्ल में नहीं आई कि क्रान्ति और सरकार दोनों परस्पर विरोधी चीजें हैं, चाहे वे कोई भी रूप धारण करें, उनका साथ-साथ चलना असम्भव है; और यह कि अराजकवाद के बाहर क्रांति नाम की कोई चीज है ही नहीं।

और यही हालत 'क्रांतिकारी सरकार' के उस दूसरे रूप की है, जिसे 'तानाशाही' (अधिनायकतन्त्र या डिक्टेटरशिप) कहते हैं।

जो खतरे क्रांति के मार्ग में, जब वह अपने को निर्वाचित सरकार के

अधीन छोड़ देती है, आते हैं, वे इतने स्पष्ट हैं कि क्रांतिकारियों का एक पूरा दल ही उस तरीके को बिल्कुल त्याज्य समझता है। ये लोग जानते हैं कि विद्रोही जनता चुनावों द्वारा केवल वैसी ही सरकार पा सकती है जो पुरानी व्यवस्था की प्रतिनिधि होगी और जो जनता के पैरों में लोहे की जंजीर साबित होगी और यह ऐसे मौके पर, जब उसे सामाजिक क्रांति करनी है यानी जब उसे सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक पुनर्जीवन प्राप्त करना है। इसलिए वे नियमानुकूल सरकार के विचारों को फालतू समझते हैं—कम-से-कम उस समय तक के लिए जब कानून के ही विरुद्ध विद्रोह है। और वे क्रांतिकारी तानाशाही का समर्थन करते हैं।

वे कहते हैं, "जो पार्टी सरकार को उखाड़ देगी, वही उसकी जगह ले लेगी। वह ताकत हथियाकर जोश से काम करना शुरू करेगी और विद्रोह को सफल बनाने के लिए आवश्यक साधन जुटायगी। पुरानी व्यवस्थाओं को वह नष्ट कर देगी और देश की रक्षा का प्रबन्ध करेगी। और वे व्यक्ति, जो इस पार्टी का प्रभुत्व नहीं मानेंगे, अथवा जो सरकार की आज्ञाएं—जो क्रान्ति की प्रगति के लिए आवश्यक हैं—मानने से इन्कार करेंगे—फिर चाहे वे जनता के या मध्यवर्ग के आदमी हों—उनके लिए बस फांसी का तख्ता है।" अब भी फांसी! देखिये ये भावी क्रांतिकारी कैसी बातें करते हैं! ये शताब्दी की उस महान् घटना (फ्रांस की राज्यक्रांति) के केवल पतनकाल का ही इतिहास जानते हैं—इतना सारा ज्ञान उसके विषय में पिछलगुओं के व्याख्यानों तक ही सीमित है।

पर हम अराजकवादियों के लिए तो तानाशाही—चाहे वह एक व्यक्ति की हो या एक पार्टी की, अन्ततः वह एक ही चीज है—सदा के लिए त्याज्य है। हम जानते हैं कि क्रान्ति और सरकार साथ-साथ चल ही नहीं सकते। चाहे सरकार को कुछ भी नाम दिया जाय—तानाशाही, बादशाही अथवा विधान मण्डल, क्रांति को तो वह नष्ट करेगी ही। हमारी पार्टी की शक्ति और उसके विचारों की सचाई इस सूत्र में है, "कोई भी अच्छी अथवा स्थायी चीज बिना जनता की स्वतन्त्र स्वेच्छा के नहीं हो सकती और

प्रत्येक सरकार उस स्वेच्छा को नष्ट नहीं करती है।" इसलिए हममें से सर्वश्रेष्ठ भी यदि उस महान् मशीन (यानी सरकार) के संचालक हो जायं और यदि हमारे विचारों की कार्यरूप में परणति होने के पहले, जनता द्वारा जांच-पड़ताल न हो गई हो, तो एक हफ्ते के भीतर ही हम फांसी के तख्ते पर भेजे जाने के योग्य हो जायंगे। हम जानते हैं कि प्रत्येक तानाशाही का—चाहे वह सद्विचारों से कितनी ही प्रेरित हो—अन्ततः मतलब होता है सब क्रांतिकारी आन्दोलनों का खात्मा। हम यह भी जानते हैं कि यह तानाशाही का विचार केवल सरकार की प्राचीन प्रतिष्ठा और उपासना की निकृष्ट उपज है, जिसने धार्मिक उपासना की भांति सदा ही गुलामी की जंजीरें मजबूत की हैं।

लेकिन इस वक्त हम अराजकवादियों से बात नहीं कर रहे। इस समय तो हमारा निवेदन है सरकारी क्रांतिकारियों से, जो अपनी पुस्तकों के इकतरफ़ा विचारों को पढ़कर गुमराह हो गए हैं और भूल से अन्धकार में पड़ गए हैं और इस प्रश्न को केवल अच्छी तरह समझना चाहते हैं।

पहले एक साधारण बात ही लें। जो व्यक्ति तानाशाही का पक्ष-समर्थन करते हैं, वे यह नहीं देख पाते कि वे इस तरह उन आदमियों के लिए रास्ता साफ कर रहे हैं जो आगे चलकर उन्हींका गला काटेंगे। अच्छा हो कि रॉब्सपियर का एक वाक्य उसके प्रशंसक याद रखें। मैंडर ने जब उस से तानाशाही के बारे में कहा, तो रॉब्सपियर ने जो सिद्धांततः तानाशाही का विरोधी न था, उत्तर दिया, 'लेकिन आप अच्छी तरह समझ लें ब्रीसट डिक्टेटर बन बैठेगा, हां, ब्रीसट जीरोडिन पार्टी का चालाक सदस्य, जो जनता की समानता की भावनाओं का जबर्दस्त दुश्मन था, सम्पत्ति का प्रबल समर्थक था (यद्यपि वह कभी इसे चोरी भी कहता था) और जो बिना किसी रहम के हीबर्ट मैरट तथा अन्य नरमदली जैकोबिन्स को कारागार में डाल देता!

यह बात सन् १७९२ में कही गई थी! तब फ्रांस में तीन साल से क्रांति थी। वास्तव में बादशाहत वहां उस समय नहीं रही थी, उसे केवल दफनाना

शेष था; सामन्तशाही का युग खत्म हो चुका था। इस समय भी जब क्रांति अबाध रूप से आगे बढ़ रही थी, ब्रीसट जैसे क्रांति-विरोधी के तानाशाह बनने की सबसे अधिक सम्भावना थी! इसके पहले सन् १७८९ में तानाशाह बनने की सबसे अधिक सम्भावना किसकी थी? उस समय मिराबो को शासन का प्रधान मान लिया गया होता। उसी मिराबो के हाथों, जिसने अपनी वक्तृत्व कला को राजा के हाथ बेच दिया था, शासन-अधिकार सौंप दिये गए होते, यदि उस समय विद्रोही जनता ने अपनी सत्ता न जमा दी होती और उसके बाद उसने निरन्तर अपने अंकुश मार कर पेरिस अथवा सूबों में बनी प्रत्येक सरकार को न तोड़ दिया होता।

लेकिन सरकार में अन्ध-विश्वास तानाशाही के समर्थकों को इतना अन्धा बना देता है कि जब जनता गुलामी की जंजीरें तोड़ने में संलग्न है तो वे बजाय इसके कि जनता को वैसा करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दें, उसके ऊपर नये ब्रीसट अथवा नैपोलियन लाद देना पसन्द करते हैं!

राजा के पुनःस्थापन और लुई फिलिप के समय की गुप्त सभाओं के कारण तानाशाही के पक्ष में विचार और भी दृढ़ हो गए। मध्यवर्ग के प्रजातंत्रवादियों ने मजदूरों की सहायता से बादशाहत को उखाड़ने और प्रजातंत्र घोषित करने के लिए कई षड्यन्त्र रचे थे। वे नहीं जानते थे कि फ्रांस में प्रजातन्त्र राज्य स्थापित होने के पहले कितने महान आमूल परिवर्तन करने होंगे। वे समझ बैठे थे कि सिर्फ एक षड्यन्त्र द्वारा वे बादशाहत को उलटकर ताकत हथिया लेंगे और फिर तुरन्त प्रजातन्त्र घोषित कर देंगे! तीस साल से अधिक समय तक ये गुप्त सभाएं दृढ़ निष्ठा अत्यधिक उत्साह और प्रेरणा से निरन्तर कार्य करती रहीं। अगर १८४८ के विद्रोह के बाद प्रजातन्त्र स्थापित हो सका, तो उसका श्रेय इस तीस साल के प्रचार को ही है। बिना उसके प्रजातन्त्र स्थापित होना असम्भव था।

इन गुप्त सभाओं का उद्देश्य था कि शक्ति हाथ में लेकर प्रजातान्त्रिक

तानाशाही स्थापित कर देंगे। लेकिन वे इसमें सफल नहीं हुए। और यह सदैव की भांति अवश्यम्भावी था, क्योंकि राजतन्त्र को षड्यन्त्र आमूल नष्ट नहीं कर सकते। यह ठीक है कि षड्यन्त्रकारियों ने उसके पतन की तैयारियां कर दी थीं। उन्होंने जनता में प्रजातांत्रिक विचार फैला दिये थे और उनके शहीदों के कारण ही जनता ने प्रजातन्त्र को अपना आदर्श बनाया था। लेकिन जिस अन्तिम चोट ने निश्चय रूप से मध्यवर्ग ारा रक्षित राजा को उखाड़ फेंका, वह गुप्त सभाओं के कार्यों से कहीं अधिक महान् और शक्तिशाली था—वह था जनता-जनार्दन का प्रयत्न।

नतीजा सबको मालूम है। जिन व्यक्तियों ने राजशाही के पतन के लिए प्रयत्न किये थे, वे शासन-सत्ता से बहुत दूर फेंक दिये गए। अन्य व्यक्ति, जो अपनी चालाकी से इन षडयन्त्रों से दूर रहे थे, जो नरम दल के नाम से प्रसिद्ध थे और जो शासन-सत्ता के लेने के मौके की बाट जोह रहे थे, आगे आ गए और उन्होंने उस ताकत को अपने हाथों में ले लिया जिसके ऊपर षड्यन्त्रकारी आशा लगाये बैठे थे। वे पत्रकार, वकील और निपुण वक्ता जो भाषण दे-देकर यश कमा रहे थे—जब सच्चे प्रजातंत्रवादी या तो हथियार बना रहे थे या जेलों में सड़ रहे थे—अब आगे आ गए और ताकत अपने हाथ में ले ली! जनता ने उनमें से कुछ का, जो सुप्रसिद्ध थे, जयघोष किया और शेष ने वैसे ही अपने को आगे कर लिया और वे केवल इसलिए नेता स्वीकार कर लिये गए क्योंकि उन्होंने हर आदमी से हर बात में सहमत होने के कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया था!

यह कहना फिजूल है कि यह सब इसलिए हुआ कि काम करनेवाली पार्टी में व्यावहारिक व्यक्तियों की कमी थी और भविष्य में दूसरे लोग इससे अधिक सफल हो सकेंगे। नहीं, कदापि नहीं। यह तो एक उतना ही अचल सिद्धांत है जितने कि आकाश के नक्षत्रों का संचालन करनेवाले नियम, कि जो पार्टी काम करती है वह अवश्य ही एक ओर ेंक दी जायगी और कूटनीतिज्ञ और फालतू बातें करनेवाले ताकत हथिया लेंगे। वे हमेशा जनता के बीच में अधिक विज्ञापित होते हैं। उनको वोट भी ज्यादा

मिल जाते हैं—उसे मत-गणना कहिये या और कुछ; चुनाव या जय-घोष—और वास्तव में हमेशा ऐसे मौकों पर केवल जय बोलने को चुनाव का नाम दे दिया जाता है। सब आदमी इन व्यक्तियों की जय बोलने लगते हैं। और सबसे अधिक जय वे बोलते हैं जो पहले क्रांति के विरोधी थे और जो इस समय बिल्कुल नाचीज फालतू आदमियों को चुनाव के लिए खड़ा कर देते हैं और इस प्रकार इस जय-जयकार में वे व्यक्ति शासक स्वीकार कर लिये जाते हैं जो वास्तव में या तो आन्दोलन के दुश्मन हैं या उसके प्रति बिल्कुल उदासीन।

उस व्यक्ति ने, जो औरों से कहीं अधिक षड्यन्त्रों की इस प्रणाली का जनक था और जिसने जिन्दगी भर जेल में रहकर क्रांति की आराधना का मूल्य चुकाया था, मृत्यु से पहले ये शब्द कहे थे, "न हमें ईश्वर चाहिए और न शासक।" इन शब्दों में सम्पूर्ण कार्यक्रम निहित है।

क्रांतिकारी सरकारों की नपुंसक गुप्त सभाएं सरकार को उलट कर उसका स्थान ले लेंगी, यह एक ऐसी कल्पना है कि इसके गढ़े में वे सब क्रांतिकारी संस्थाएं, जो १८२० से मध्यम श्रेणी के प्रजातंत्रवादी व्यक्तियों के बीच उठी थीं, गिर पड़ीं। इतिहास की घटनाएं हमें बतलाती हैं कि यह कितनी बड़ी भ्रान्ति है। 'नवीन इटली' नाम की पार्टी की प्रजातंत्रवादी गुप्त सभाओं ने कितनी लगन, उत्साह और आत्मोत्सर्ग से काम किया था! वे सब महान कार्य, वे त्याग, जो इटली के नवयुवकों ने किये थे और जिनके सामने रूस के क्रांतिकारी नवयुवकों के त्याग भी फीके पड़ जाते हैं—आस्ट्रिया के किलों में सहस्रों की लाशें और हजारों को फांसी—इन सबके बावजूद क्या हुआ? आखिर में शासन-सत्ता मध्यवर्ग के और राजघराने के कुछ चालाक, धूर्त व्यक्तियों के हाथ में पहुंच गई।

और यह अवश्यम्भावी है; इसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता, क्योंकि शासन-व्यवस्था का बिलकुल खातमा करना गुप्त सभाओं अथवा क्रांतिकारी संस्थाओं के बूते का काम नहीं। उनका महान् कार्य और उद्देश्य तो जनता के मस्तिष्क को क्रांति के लिए तैयार कर देना है। जब जनता तैयार

हो गई और परिस्थितियां अनुकूल हो गई, तब सत्ता को आखिरी धक्का दिया जाता है, और यह आखिरी धक्का वह दल नहीं देता, जिसने आन्दोलन चलाया था, वरन् जन-साधारण--जो उस दल से बिल्कुल बाहर थे--देते हैं। ३१ अगस्त को पेरिस की जनता ब्लैंकी की बात भी सुनना नहीं चाहती थी। चार दिन बाद ब्लैंकी ने सरकार के पतन की घोषणा की, लेकिन तबतक आन्दोलन ब्लैंकी अथवा उसके अनुयायियों के हाथ में नहीं रहा था। जनता के लाखों ही आदमियों ने मिलकर उस व्यक्ति को गद्दी से उतारा था और उन धूर्तों को शासक चुना था, जिनके नाम दो साल से उनके कानों में गूंज रहे थे। जब विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित होनेवाली होती है, जब आन्दोलन की लहर चारों ओर फैल जाती है और जब उसकी सफलता प्रायः निश्चित हो जाती है, तब हजारों ही ऐसे व्यक्ति, जो आन्दोलन के प्रभाव से बिल्कुल अछूते थे, आन्दोलन में शामिल होने के लिए ऐसे ही आ टपकते हैं जैसे ठीक समय पर गिद्ध श्मशान-भूमि में लाशों के लिए इकट्ठे हो जाते हैं। ये व्यक्ति अन्तिम प्रयत्न में सहयोग देते हैं। लेकिन उसके बाद वे अपना नेता सच्चे और पक्के षड्यंत्रकारियों में से नहीं, वरन् ढुल-मुल यकीन व्यक्तियों में से चुनते हैं और तब षड्यंत्रकारी, जिनके दिमाग में अब भी तानाशाही के पक्ष में विचार भरे हैं, जान-बूझकर अपने इन दुश्मनों को ही शासन-सत्ता सौंपने का उपक्रम करते हैं! यदि यह सबब जो अभी हमने कहा है राजनैतिक क्रांतियों अथवा विद्रोहों के बारे में सच है, तो उससे भी अधिक सच यह उस क्रांति के विषय में है, जिसे हम चाहते हैं, यानी सामाजिक क्रांति। सरकार को--एक शक्तिशाली और अधिकृत संस्था को--किसी भी रूप में स्थापित होने देने के मानी हैं, क्रांति के कार्य का तुरन्त खात्मा कर देना। यह सरकार कोई हितकर काम तो कर नहीं सकेगी, उल्टे बुराइयों की हद कर देगी।

क्रांति से हमारा तात्पर्य क्या है? उसके मानी यह नहीं हैं कि शासकों में परिवर्तन कर देना। उसका वास्तविक अर्थ है सामाजिक सम्पत्ति के ऊपर जनता का अधिकार; उसके मानी हैं उन सब शक्तियों को नष्ट कर

देना, जो अबतक मनुष्य-समाज की प्रगति में बाधक रही हैं। लेकिन क्या यह महान् आर्थिक क्रांति एक सरकार के द्वारा निकाले हुए आर्डीनेन्सों द्वारा हो सकती है? हम पिछली शताब्दी में देख चुके हैं कि पोलैण्ड के क्रांतिकारी तानाशाह कौशसको ने व्यक्तिगत गुलामी को बन्द करने की आज्ञा निकाल दी थी और उस आज्ञा के अस्सी वर्ष बाद तक वह प्रथा जारी रही थी। हम महान् शक्तिशाली कनवेंशन, जिसे उसके प्रशंसक 'भयंकर कनवेंशन' भी कहते हैं, को भी देख चुके हैं। उस कनवेंशन ने जागीरदारों की जब्त की हुई जमीन को प्रत्येक आदमी को बराबर-बराबर बांटने का आदेश दिया था। अन्य आदेशों की तरह यह भी कागजों में पड़ा सड़ता रहा; क्योंकि अमल में लाने के लिए यह आवश्यक था कि देहातों का शोषित समाज एक बिल्कुल नई क्रांति करे, और क्रांतियां कभी सरकारी आदेशों से नहीं होतीं। जनता सामाजिक धन तथा साधनों को अपने हाथ में ले सके, इसके लिए आवश्यक है कि उसको चाहे कुछ भी करने की आजादी हो। उस महान् परिर्वतन के लिए आवश्यक है कि जनता गुलामों की आदतों को, जिनकी वह अबतक अभ्यस्त रही है, कतई छोड़ दे और वह अपनी इच्छा से बिना किसी आज्ञा का इन्तजार किये आगे बढ़ चले। तानाशाही, चाहे वह कितनी ही समीक्षाओं से प्रेरित हो, इस चीज का विरोध करेगी और इसलिए तानाशाही के लिए यह बिल्कुल असम्भव है कि वह क्रांति को रत्ती भर भी आगे बढ़ा सके।

और जब कोई सरकार, चाहे वह एक आदर्श क्रांतिकारी सरकार ही क्यों न हो, जनता में कोई नई लहर पैदा नहीं कर सकती और हमारे उस महान् विध्वंस-कार्य में बिल्कुल सहायक नहीं हो सकती, तो पुनर्संगठन के कार्य में, जो विध्वंस के बाद प्रारम्भ होगा, उससे और भी कम आशा की जा सकती है। सामाजिक क्रांति के फलस्वरूप जो आर्थिक क्रांति होगी, वह इतनी महान् और गम्भीर होगी, वह सम्पत्ति और विनिमय की मौजूदा व्यवस्थाओं में इतने परिवर्तन करेगी कि किसी मनुष्य के लिए यह असम्भव है कि वह विभिन्न सामाजिक संस्थाओं

का—जो भावी समाज में स्थापित होंगी, विस्तृत वर्णन कर सके। इन नई सामाजिक संस्थाओं का विस्तृत ब्यौरा केवल जनता की सामूहिक शक्ति ही दे सकती है। व्यक्तिगत पूंजी के खतम होते ही जो तरह-तरह की आवश्यकताएँ और परिस्थितियां उपस्थित होंगी, उनका मुकाबला केवल सम्पूर्ण जनता के संयुक्त विचार ही कर सकते हैं। कोई भी बाहरी शक्ति उस में केवल बाधक ही न होगी, बल्कि उससे घृणा और झगड़े उत्पन्न होंगे।

लेकिन अब वक्त आ गया है कि हम 'क्रांतिकारी सरकार' की इस माया को, जो कई दफा झूठी और इतनी मंहगी साबित हो चुकी है, सदा के लिए तिलांजलि दे दें। अब भी समय है कि हम सब राजनीति-शास्त्र के इस तत्त्व को स्वीकार कर लें कि सरकारों का क्रांतिकारी होना असम्भव है। कुछ व्यक्ति कनवेंशन की मिसाल देते हैं। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जो थोड़े-से कार्य कनवेंशन ने किये थे—और वे बहुत क्रांतिकारी भी नहीं थे—वे केवल उस जनता के किये हुए कामों के ऊपर सिर्फ सरकारी मुहर-से थे जो उस समय प्रत्येक सरकार को पद-दलित कर रही थी। जैसा कि विक्टर ह्यूगो ने कहा है—रॉब्सपियर को डाण्टन ने हटाया, मारेट ने डाण्टन की गद्दी ली और बाद में खुद मारेट को सीमोर-डेन के लिए जगह खाली करनी पड़ी—और ये व्यक्ति उस समय के उत्साही विद्रोहियों के विभिन्न दलों के प्रतिनिधि थे। वास्तव में कनवेंशन भी उससे पहले और उसके बाद की बनी हुई सब सरकारों की भांति ही जनता के कार्य में बाधक ही सिद्ध हुआ था।

इतिहास इस दिशा में जो तथ्य हमें बतलाता है, वे इतने अकाट्य हैं और सरकार के क्रांतिकारी होने की असम्भवता और उसके हानिकर फल इतने स्पष्ट हैं कि यह समझना भी मुश्किल मालूम होता है कि अपने को साम्यवादी कहनेवाला एक वर्ग-विशेष सरकार के पक्ष में विचार कैसे रख सकता है। लेकिन इसका कारण स्पष्ट है। वह यह कि अपने को साम्यवादी कहनेवाले इन व्यक्तियों की, और हमारी, क्रांति के विषय में बिल्कुल भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। मध्यवर्ग के प्रजातन्त्रवादियों की भांति उनके लिए सामाजिक

क्रांति तो सुदूर भविष्य की चीज है, जिसके विषय में उनकी राय में अभी सोचना भी व्यर्थ है। उनके मस्तिष्क में जो कल्पना है यद्यपि उसके स्पष्ट करने की हिम्मत उनमें नहीं है, तथापि वह तो बिल्कुल भिन्न है। वह कल्पना यह है स्विटज़रलैण्ड अथवा संयुक्त राज्य अमरीका की तरह की सरकार की स्थापना, और फिर समाज के लिए कुछ आवश्यक और उपयोगी वस्तुओं को राज्य के लिए जब्त कर लेना। उनका आदर्श बिस्मार्क के आदर्श से कुछ मिलता-जुलता है। वह जन-साधारण की साम्यवादी आकांक्षाओं और मध्य वर्ग की पद-लालसा के बीच अग्रिम समझौता है। वास्तव में उनकी इच्छा तो अवश्य रहती है कि सम्पूर्ण सम्पत्ति जनता के हाथ में आ जाय, लेकिन ऐसा करने की उनमें हिम्मत नहीं। इसलिए उसे वे अगली शताब्दी के लिए टाल देते हैं और युद्ध के पहले ही दुश्मन से सुलह की बातचीत शुरू कर देते हैं!

: ३ :

नीति और जीवन

मानवीय विचार का इतिहास हमें पेण्डुलम के झूलने का स्मरण दिलाता है, जिसके झूलने में शताब्दियां लग जाती हैं। चिरकालीन निद्रा के बाद जब जागरण का समय उपस्थित होता है तो मानवीय विचार अपने को उन शृंखलाओं से मुक्त कर डालता है, जिन शृंखलाओं से शासक, कानून-पेशावाले और धर्म-याजकों ने अपने स्वार्थ के लिए उसे बड़ी सावधानी से आवेष्टित कर रखा है।

वह शृंखलाओं को छिन्न-भिन्न कर डालता है। उसे अबतक जो कुछ शिक्षाएं मिली हैं, उनकी वह तीव्र आलोचना करता है, और जिन धार्मिक राजनैतिक, कानून-सम्बन्धी तथा सामाजिक पक्षपातपूर्ण विचारों में होकर वह अंकुरित एवं पल्लवित हुआ है, उनकी शून्यता को वह नग्न रूप में प्रकट कर देता है। वह नवीन मार्गों पर चलकर अनुसंधान करता है, नवीन आविष्कारों से हमारे ज्ञान को वर्द्धित करता है और नूतन विज्ञान की सृष्टि

करता है। किन्तु विचार के बद्धमूल शत्रु—सरकार, विधि-निर्माता और पुरोहित—फिर शीघ्र ही अपनी पराजय को भूलकर आगे आ जाते हैं। क्रमशः वे अपनी बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करते हैं और अपने धर्म-विश्वास तथा नियम-विधान को नूतन आवश्यकताओं के अनुरूप बनाते हैं। इसके बाद विचार और चरित्र की दासता से लाभ उठाकर, जिसको उन्होंने स्वयं बड़ी ही निपुणता के साथ जनता में पैदा किया है तथा समाज की असंगठित व्यवस्था, कुछ लोगों के आलस्य, कुछ के लोभ और बहुतों की सर्वोत्तम आशाओं से लाभ उठाकर, वे चुपचाप फिर अपने कार्य को—सबसे पहले शिक्षा द्वारा बच्चों पर अधिकार जमा कर—ग्रहण कर लेते हैं।

बच्चे की आत्मा दुर्बल होती है। उसे भय दिखाकर बाध्य करना सहज है। वे ऐसा ही करते हैं। वे बच्चे को भीरु बना डालते हैं और तब वे उसे नरक की यंत्रणाओं के किस्से बतलाते हैं। वे उसके सामने पापियों के कष्ट और निष्ठुर ईश्वर की प्रतिहिंसा का चित्र चित्रित करते हैं, फिर दूसरे ही क्षण वे क्रांति की भयंकरताओं और क्रांतिकारियों के कुछ अत्याचारों का वर्णन करके बच्चे को शांति और व्यवस्था का समर्थक बनाने की चेष्टा करते हैं। पुरोहित बालक को विधि-विधानों से अभ्यस्त बनाता है, जिससे कि वह 'ईश्वरीय नियम' का अच्छी तरह पालन कर सके। वकील 'ईश्वरीय कानून' के बारे में बार-बार चर्चा करता है, जिससे मानवीय कानूनों का अच्छी तरह पालन किया जा सके।

आत्म-समर्पण के इस अभ्यास के कारण, जिससे हम लोग अच्छी तरह परिचित हैं, भावी पीढ़ी के विचार में भी वही टेढ़ापन रह जाता है, जो दास-सुलभ होने के साथ-साथ शासनात्मक भी होता है, क्योंकि प्रभुता और दासता साथ-साथ चलती हैं।

तन्द्रालसता के इस संक्रमण काल में नीति-ज्ञान पर कदाचित ही विवेचना होती है। धार्मिक अनुष्ठान और न्याय-विषयक पाखंड उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं। लोग किसी बात की समालोचना नहीं करते, बल्कि अभ्यास

और उदासीनता के कारण वस्तु-स्थिति को ज्यों-के-त्यों रूप में स्वीकार कर लेते हैं। चिराचरित नीतिनिष्ठा के विरुद्ध कुछ बोलने का उनमें साहस नहीं होता। वे इस बात की पूरी चेष्टा करते हैं कि जो-कुछ वे अपने मुँह से कहते हैं, उसके अनुकूल उनका आचरण प्रतीत हो।

मनुष्य में जो कुछ सत्, महान्, उदार या स्वतंत्र था, उसपर क्रमशः काई लगने लगती है और उसपर उसी तरह जंग लग जाता है, जिस तरह काम में आनेवाली छुरी पर। मिथ्या उस समय धर्म बन जाता है और एक साधारण बात कर्त्तव्य बन जाती है। जो लोग सुख-चैन से जीवन व्यतीत करते हैं, उनका ध्येय होता है——चाहे जैसे हो, अपने को धनवान बनाना, आये हुए अवसरों से लाभ उठाना, अपनी बुद्धि, उत्साह और शक्ति का पूर्ण रूप से मनमाने उद्देश्य के लिए उपयोग करना। गरीब लोगों का ध्येय भी यही बन जाता है, क्योंकि उनका आदर्श भी तो यही होता है कि मध्यम श्रेणी जैसा अपने को प्रदर्शित करें। इसके बाद शासक और न्यायकर्त्ता, धर्म-याजक और धनी तथा मध्यम श्रेणी का अधःपतन इतना घृणास्पद हो उठता है कि पेण्डु-लम दूसरी ओर झूलने लगता है।

धीरे-धीरे युवक सम्प्रदाय अपने को इन बन्धनों से मुक्त कर डालता है। वह अपने पूर्व-निश्चित विचारों को दूर फेंक देता है और प्रत्येक विषय की समालोचना करने लगता है। चिन्तन-शक्ति जाग्रत होती है, पहले तो थोड़े लोगों में, इसके बाद अज्ञात रूप से जनता तक पहुँच जाती है। फिर आवेग उत्पन्न होता है और उसका परिणाम होता है क्रांति।

प्रत्येक बार नीति-निष्ठा का प्रश्न उपस्थित होता है। 'मैं इस पाखंडपूर्ण नीति-निष्ठा के सिद्धांतों का अनुसरण क्यों करूँ ?'——धार्मिक भय से मुक्त मस्तिष्क में यह प्रश्न उपस्थित होता है। कोई नीति-निष्ठा बाध्यतामूलक क्यों होनी चाहिए ?

जीवन के प्रत्येक अवसर पर लोगों के सामने जो नैतिक भावना उपस्थित होती है, उसका कारण बतलाने की वे चेष्टा करते हैं, यद्यपि वे स्वयं उसे नहीं समझते। और जबतक वे यह समझते रहेंगे कि यह नैतिकता की भावना

केवल मनुष्यों में ही पाई जाती है, और जबतक वे पशु-जगत या पाषाण-जगत का अध्ययन नहीं करते, तबतक इसे समझने के लिए वे इसकी व्याख्या कर भी नहीं सकेंगे, किन्तु उपयुक्त अवसर उपस्थित होने पर वे इसका उत्तर ढूंढ़ते हैं।

यदि हम यह कहने का साहस करें, तो कह सकते हैं कि समाज में प्रचलित नीति-निष्ठा अथवा यों कहिये कि पाखंड का, जिसने उसका स्थान ग्रहण कर लिया है, आधार जितना ही अधिक क्षीण होगा, उतना ही अधिक समाज का नैतिक धरातल ऊँचा उठेगा। ठीक ऐसे समय में ही, जबकि लोग प्रचलित नीति-निष्ठा की आलोचना करते हैं और उसे स्वीकार करते हैं, नैतिक भावना की सबसे अधिक उन्नति होती है। इसी समय इसका विकास होता है, उत्थान होता है और इसमें विशुद्धता आती है।

वर्षों पहले रूस के युवकों को इसी प्रश्न ने अत्यधिक विक्षुब्ध कर दिया था। "मैं नीति-भ्रष्ट बनूंगा !"––एक निहिलिस्ट युवक अपने मित्र के पास आता और उससे कहता। इस प्रकार उसने अपने उन विचारों को कार्यरूप में परिणत कर दिखाया, जिनके कारण उसे चैन नहीं मिलता था। "मैं नीतिभ्रष्ट बनूंगा, और मुझे ऐसा क्यों नहीं बनना चाहिए ? क्योंकि बाइबिल की ऐसी शिक्षा है ? किन्तु आखिर बाइबिल भी तो बेबलोनियन और हिब्रू जाति की परम्परागत कथाओं का––जो कथाएं होमर के पद्य-जैसे या इस समय भी बास्क के पद्य और मंगोलिया की कथाओं का जैसा संग्रह हो रहा है वैसा––संग्रह मात्र है ! तो क्या मैं भी अपने मन की स्थिति को पूर्व की अर्द्ध-सभ्य जातियों जैसी बना लूं ? क्या मुझे इसलिए सदाचारी बनना चाहिए कि दार्शनिक काण्ट ने बताया है कि मेरे अन्तरतम से एक रहस्यमय आदेश होता है और वह मुझे सदाचारी बनने के लिए कहता है ? किन्तु इसी आदेश का मेरे कार्यों के ऊपर उस आदेश की अपेक्षा विशेष प्रभुत्व क्यों हो, जो आदेश समय-समय पर मुझे मद्य-पान के लिए प्रेरित करता है ? 'ईश्वर' या 'दैव' जैसे शब्द सिर्फ इसलिए गढ़े गए हैं कि उनके द्वारा हम अपने अज्ञान को छिपा सकें।

"या शायद मुझे इसलिए सदाचारी बनना चाहिए कि दार्शनिक बैन्थम ने मुझे बताया है कि यदि मैं एक पथिक को, जो नदी में गिर पड़ा है, खड़ा होकर डूबते हुए देखने की अपेक्षा स्वयं डूबकर बचा लूं, तो इसमें मुझे अधिक आनन्द प्राप्त होगा ? या शायद इसलिए कि मुझे ऐसी ही शिक्षा मिली है ; क्योंकि मेरी मां ने मुझे नीति-ज्ञान की शिक्षा दी थी ? तो क्या मैं गिरजाघर में जाकर और घुटने टेककर उपासना करूँ, राजमहिषी का अभिवादन करूँ, न्यायकर्त्ता के सामने—जिसे मैं एक दुरात्मा के रूप में जानता हूँ—माथा टेकूं, सिर्फ इसलिए कि हमारी माताओं—भोलीभाली अबोध माताओं—ने हमें इस तरह की बहुत-सी झूठ-मूठ की बातें सिखलाई हैं ?

"मैं भी, और लोगों के समान ही पूर्व-संस्कारों से विजड़ित हूँ। मैं इन संस्कारों से अपने को मुक्त करने की चेष्टा करूँगा। यद्यपि नीति-भ्रष्टता मेरे लिए विरक्तिजनक होगी, तथापि मैं अपनेको जबरदस्ती उसी प्रकार नीति-भ्रष्ट बनाऊँगा, जिस प्रकार लड़कपन में मैंने बलपूर्वक अपने को अन्धकार, गिरजाघर, भूत-प्रेत और मृतक के भय से मुक्त किया था, जिन सबसे भय करना मुझे सिखलाया गया था।

"धर्म द्वारा जिस साधन का दुरुपयोग हुआ है, उसे भंग करना नीति-विरुद्ध होगा, मैं ऐसा करूंगा और वह इसलिए कि सदाचार के नाम पर पाखंड का जो बोझ हमारे ऊपर लाद दिया गया है, उससे अपनी रक्षा करूँ।"

रूस के युवकों ने जब पुराने जमाने के कुसंस्कारों का परित्याग किया था, और निहिलिस्ट या अनार्किस्ट (अराजकवादी) दर्शन का झंडा फहराया था, उस समय वे इसी ढंग से तर्क-वितर्क किया करते थे। किसी भी प्रभुता के सामने घुटने नहीं टेकना, चाहे वह कितनी ही सम्माननीय क्यों न हो, किसी भी सिद्धांत को तबतक ग्रहण नहीं करना जबतक कि वह बुद्धि द्वारा प्रमाणित न हो।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अपने पूर्वजों के उपदेश को रद्दी की टोकरी में फेंककर और नीति-ज्ञान की सारी पद्धतियों को जलाकर निहिलिस्ट युवकों ने अपने बीच नैतिक आचारों का एक ऐसा केन्द्र बना लिया, जो उन सब

बातों से कहीं श्रेष्ठ था, जिनका आचरण उनके पूर्वजों ने 'धर्म वाक्य', 'अन्तः-करण', 'अन्तरात्मा का आदेश' या 'परोपकारिता से लाभ' इन सब बातों के अधीनस्थ होकर किया था; किन्तु इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व कि 'मैं सदाचारी क्यों बनूं ?' हम यह देखें कि यह प्रश्न ठीक तौर से रखा गया है या नहीं। आइये, हम पहले मानवीय क्रिया के उद्देश्य का विश्लेषण करें।

मनुष्य अच्छा या बुरा काम क्यों करता है, इसका कारण जब हमारे पूर्वज बतलाना चाहते थे, तो वे बहुत ही सीधे ढंग से काम लिया करते थे। अबतक भी इस प्रकार की कैथोलिक संप्रदाय की कई मूर्तियां पाई जाती हैं, जिनसे इस विषय की व्याख्या पर प्रकाश पड़ता है। एक मनुष्य रास्ते से होकर जा रहा है। उसे इस बात की बिल्कुल खबर नहीं है कि वह अपने बायें कंधे पर एक शैतान को और दायें कंधे पर एक देवदूत को वहन किये हुए है। शैतान उसे पापकर्म करने के लिए प्रेरित करता है। यदि देवदूत का आदेश ग्रहण करके वह धर्मनिष्ठ बना रहता है तो अन्य तीन देवदूत उसे पकड़कर स्वर्ग ले जाते हैं। इस प्रकार सब शुभाशुभ कर्मों की व्याख्या बड़े-ही अच्छे ढंग से हो जाती है।

रूस की बुड्ढी धाइयां, जो इस प्रकार की कहानियों की खान होती हैं, आपको बतायंगी कि बच्चे के कुरते के गले का बटन खोले बिना उन्हें बिछौने पर नहीं सुलाना चाहिए। गर्दन के नीचे एक गरम स्थान खाली छोड़ देना चाहिए, जहां रक्षक देवदूत सुख से आश्रय ग्रहण कर सके। ऐसा न करने पर शैतान सोते हुए बच्चे को भी पीड़ा पहुंचायगा।

इस प्रकार की सरल भावनाएं अब लुप्तप्राय हो रही हैं; किन्तु यद्यपि पुराने शब्द लुप्त हो रहे हैं, फिर भी उनका जो वास्तविक भाव है, वह पहले के समान ही बना हुआ है।

सुशिक्षित व्यक्ति अब भूत-प्रेत या शैतान में विश्वास नहीं करते; किन्तु उनकी भावनाएँ हमारी धाइयों की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत नहीं कही जा सकतीं। दर्शन-शास्त्र के नाम पर बाहरी तड़क-भड़क के शब्दों से वे शैतान और देवदूतों को छिपा देते हैं। आधुनिक समय में वे 'शैतान' न कहकर इसे

'इन्द्रिय लालसा' या 'मनोविकार' कहते हैं। देवदूत के बदले 'अन्तःकरण' या 'आत्मा' शब्द का व्यवहार होता है; किन्तु मनुष्य की क्रियाओं को इस समय भी दो विरोधी तत्त्वों के बीच होनेवाले संग्राम का परिणाम बताया जाता है और मनुष्य ठीक उसी मात्रा में धर्मनिष्ठ समझा जाता है, जिस मात्रा में इन दो तत्त्वों में से एक—आत्मा या अन्तःकरण—दूसरे तत्त्व—इन्द्रिय लालसा या मनोविकार—पर विजय प्राप्त करता है।

जब अंग्रेज दार्शनिकों ने और उनके बाद विश्वकोष के निर्माताओं ने इन आदिम भावनाओं के विरुद्ध यह दृढ़तापूर्वक कहना शुरू किया कि शैतान या देवदूत के साथ मानवीय कार्य का कोई संबंध नहीं है, और मनुष्य के सब कार्य—शुभ या अशुभ, हितकर या अहितकर—सिर्फ एक ही अभिप्राय से उत्पन्न होते हैं; और वह अभिप्राय है सुखोपभोग की कामना, तो उस समय हमारे बाप-दादों को कितना आश्चर्य हुआ होगा, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

संपूर्ण धार्मिक समाज ने और खासकर धर्मध्वजियों के विभिन्न दलों ने इसे 'दुर्नीति' कहकर चिल्लाना शुरू किया। चिन्तनशील विद्वानों पर अपमानों की बौछार होने लगी और उन्हें जाति-बहिष्कृत कर दिया गया। इसके एक शताब्दी बाद जब बैन्थम, जॉन स्टुअर्ट मिल, चरनिस्मेस्की तथा अन्य बहुत-से दार्शनिकों ने इसी तत्त्व का प्रतिपादन करना शुरू किया, और जब इन मनीषियों ने यह दृढ़तापूर्वक कहना और सिद्ध करना शुरू किया कि अहंवाद या भोग की वासना ही हमारी समस्त क्रियाओं का वास्तविक अभिप्राय है, तो उनके ऊपर अभिशाप की वर्षा द्विगुणित रूप में होने लगी। मौनावलम्बन का षड्यंत्र रचकर उनकी रचनाओं को वर्जित कर दिया गया, और रचयिताओं के प्रति स्थूल-बुद्धि व्यक्तियों जैसा व्यवहार किया गया। किन्तु उन्होंने जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया था, उससे बढ़कर अधिक सत्य और क्या हो सकता है?

एक आदमी ऐसा है, जो एक बालक के मुख का अन्तिम ग्रास छीनकर खा जाता है। उसके संबंध में प्रत्येक व्यक्ति यही कहेगा कि वह एक भयानक

स्वार्थपरायण मनुष्य है और एकमात्र स्वार्थपरता के भाव से ही वह उत्प्रेरित होता है।

अब एक ऐसे आदमी को लीजिये, जिसे प्रत्येक व्यक्ति धर्मनिष्ठ समझता है। वह स्वयं भूखा और नंगा रहकर भूखों को अन्न और नंगों को वस्त्र प्रदान करता है। नीतिपरायण व्यक्ति अपने धर्म-संबंधी अपलापों की पुनरावृत्ति करते हुए फौरन यह कह बैठेंगे कि उक्त मनुष्य का अपने पड़ोसी के प्रति प्रेम आत्मोत्सर्ग की सीमा पर पहुँच गया है, और वह स्वार्थ-परायण व्यक्ति की अपेक्षा एक संपूर्ण भिन्न मनोद्वेग के आदेशानुसार आचरण करता है। किन्तु कुछ हो, विचार करने के बाद हमें शीघ्र ही इस बात का पता चल जायगा कि दोनों प्रकार के कार्यों में मनुष्य-जाति के लिए परिणाम की दृष्टि से चाहे कुछ भी अन्तर क्यों न हो, किन्तु दोनों का उद्देश्य एक ही है। वह उद्देश्य है सुखोपभोग का सन्धान! जिस मनुष्य ने स्वयं नंगा रहकर दूसरे को अपना वस्त्र दे दिया, उसे यदि ऐसा करने में आनन्द नहीं मिलता तो वह इस काम को नहीं करता। यदि उसे बालक के हाथ से रोटी छीनने में आनन्द मिलता, तो वह भी ऐसा ही करता; किन्तु यह काम उसके लिए विरक्तिजनक था। उसे दान करने में आनन्द मिलता है, इसलिए वह दान करता है। जिन शब्दों का अर्थ बहुत दिनों से प्रचलित हो गया है, उनका नये अर्थ में उपयोग करने में यदि भ्रम नहीं हो, तो यह कहा जा सकता है कि दोनों ही दशाओं में उक्त मनुष्यों ने अपने अहंकारजनित मनोद्वेग से प्रेरित होकर कार्य किया था। कुछ लोगों ने ठीक ऐसा ही कहा है, और इस विचार को प्रधानता देने तथा इस भावना को स्पष्ट रूप में व्यक्त करने के लिए उसे इस रूप में रखा है, जिससे वह चमत्कारपूर्ण प्रतीत हो और साथ ही इस मिथ्या भावना का अन्त कर डाले कि इन दो क्रियाओं के अभिप्राय भिन्न-भिन्न हैं। उनका अभिप्राय एक ही है, और वह है सुख का सन्धान अथवा दुःख का परिहार! ये ोनों बातें एक ही हैं।

दृष्टांत के लिए सबसे अधम दुरात्मा को लीजिये। थेयर्स जैसा नराधम, जो पेंतीस हजार पेरिस-निवासियों की हत्या कर डालता है, अथवा एक हत्यारा

जो संपूर्ण परिवार की इसलिए हत्या करता है कि जिससे वह व्यभिचार-पंक में अपने को निमग्न कर सके। वे ऐसा इसलिए करते हैं कि उस क्षण में यश या अर्थ की कामना उनकी अन्य सब कामनाओं को दबा देती है, यहां तक कि यह कामना, यह दूसरी पिपासा, उनकी दया और करुणा तक को कुछ समय के लिए विनष्ट कर देती है। अपनी प्रकृति की वासना को तृप्त करने के लिए वे स्वतःप्रेरित भाव से कार्य करने लगते हैं। अच्छा, अब प्रबल मनोविकार की बात छोड़कर एक ऐसे तुच्छ व्यक्ति को लीजिये, जो अपने मित्रों को धोखा देता है, जो प्रत्येक व्यक्ति के सामने हाथ फैलाता है, और अपने वाक-चातुर्य या धूर्तता से कुछ-न-कुछ ऐंठ लेता है। एक ऐसे मालिक को लीजिये, जो अपने नौकरों को इसलिए ठगता है, जिससे वह अपनी पत्नी या प्रेमिका के लिए जवाहरात खरीद सके। चाहे किसी भी तुच्छ दुरात्मा को ले लीजिये। वह जो कुछ करता है, अपने मनोविकार के आदेशानुसार। वह अपनी इन्द्रिय-लालसा की तृप्ति चाहता है, या ऐसी वस्तु से भागना चाहता है जिससे उसे कष्ट पहुँचे।

इस प्रकार के तुच्छ दुरात्माओं के साथ हम ऐसे व्यक्ति की तुलना करने में लज्जा बोध करते हैं, जो अत्याचार-पीड़ितों को मुक्त करने के लिए अपने अस्तित्व तक का बलिदान कर देता है और रूस के एक निहिलिस्ट की भांति फांसी के तख्ते पर चढ़ जाता है। इन दो प्रकार के जीवनों का परिणाम मानवता की दृष्टि से जितना ही अधिक विभिन्न होता है, उतना ही हम एक की ओर आकृष्ट होते हैं और दूसरे की ओर से विरक्त बने रहते हैं।

यदि आप एक ऐसी शहीद स्त्री से, जो फांसी पर झूलने जा रही हो, उसके फांसी के मंच के पास पहुँचते समय, बातें करें, तो वह आपको बतायगी कि वह अपने जीवन या मृत्यु का विनियम उस तुच्छ दुरात्मा के जीवन से नहीं करना चाहती, जो अपने मजदूरों के वेतन से पैसे चुराकर अपनी जीविका निर्वाह करता है। उसे अपने जीवन में, महान् शक्तिशाली अत्याचारियों के साथ संग्राम करने में अत्यधिक आनन्द मिलता है। इस संग्राम के सिवा और सबकुछ, मध्यम श्रेणी के समस्त आनन्द और कष्ट उसे कितने

हेय, कितने क्लांतिजनक, कितने शोचनीय प्रतीत होते हैं! वह आपके प्रश्न का उत्तर देते हुए कहेगी—"तुम जीवन धारण नहीं करते, बल्कि अकर्मण्य बनकर घास-फूस की तरह उगते हो, मैंने प्रकृत जीवन धारण किया है।"

यहां हम मनुष्य के सुचिन्तित और सचेतन कार्यों की चर्चा कर रहे हैं। फिलहाल हम उन बातों की चर्चा नहीं करते, जिन्हें हम मनुष्य के अचेतन कार्य कहते हैं, जो कार्य यंत्रवत् होते रहते हैं और जिनका हमारे जीवन में एक बहुत बड़ा भाग होता है। मनुष्य जो कार्य सुचिन्तित और सचेतन रूप में करता है, उसमें वह सदा ऐसी बातों की खोज करेगा, जिनसे उसे आनन्द मिले।

एक व्यक्ति जो मद्य सेवन करके प्रतिदिन अपनेको पशु की दशा में अधःपतित कर रहा है, वह ऐसा इसलिए करता है कि उसे मद्य में जो स्नायविक उत्तेजना प्राप्त होती है, वह उत्तेजना उसे अपनी मांसपेशियों से प्राप्त नहीं हो सकती। दूसरा आदमी मादक पदार्थ का सेवन नहीं करता, आनन्ददायक मालूम होने पर भी वह शराब नहीं पीता, और वह ऐसा इसलिए करता है, जिससे वह अपने विचारों की नूतनता और शक्तियों की प्रचुरता को कायम रख सके, और वह अन्य आनन्दों का उपभोग कर सके, जिन्हें वह मादकता की अपेक्षा विशेष वांछनीय समझता है। किन्तु उस समय उसका आचरण क्या वैसा ही नहीं होता, जैसा उस सुस्वादु भोजन के प्रेमी का, जो भोज में नाना प्रकार के व्यंजनों पर दृष्टिपात करके किसी एक व्यंजन का, जिसे वह बहुत पसंद करता है, परित्याग कर देता है, ताकि वह दूसरे व्यंजन को, जिसे वह पहले की अपेक्षा विशेष पसंद करता है, यथेष्ट ग्रहण कर सके?

जब एक स्त्री अपना अन्तिम ग्रास किसी आगन्तुक को दे देती है, जब वह अपने शरीर पर के चिथड़े उतारकर दूसरी स्त्री को, जिसे सर्दी लग रही हो, तन ढकने के लिए दे देती है और स्वयं जहाज के डेक पर खड़ी-खड़ी सर्दी से ठिठुरती रहती है तो वह ऐसा इसलिए करती है कि उसे स्वयं अपने भूखे रहने या सर्दी से ठिठुरने की अपेक्षा दूसरे भूखे मनुष्य को देखकर अथवा सर्दी से ठिठुरती हुई दूसरी स्त्री को देखकर विशेष कष्ट का अनुभव होगा।

वह एक ऐसी पीड़ा से बचना चाहती है, जिसकी गुरुता वे ही लोग समझ सकते हैं, जिन्होंने इसे महसूस किया है।

गुयाऊ नामक लेखक ने अपनी पुस्तक में एक ऐसे आस्ट्रेलिया-निवासी मनुष्य का दृष्टांत दिया है, जो अपने मन में इस धारणा का पोषण करते रहने के कारण क्षीण होता जा रहा था कि उसने अबतक अपने कुटुम्बियों की मृत्यु का बदला नहीं लिया है। वह अपनी भीरुता का खयाल करके दिन-दिन कृश और म्लान होता जा रहा था और जबतक उसने प्रतिहिंसा का कार्य पूरा नहीं कर लिया, तबतक उसकी जान-में-जान न आई। वह इस प्रकार का प्रतिहिंसा-मूलक कार्य क्यों करता है—जो कार्य कभी-कभी वीरत्वपूर्ण भी कहा जा सकता है ? इसीलिए न, कि जिस धारणा के कारण उसका मन अभिभूत हो रहा है, उससे वह मुक्त हो जाय और उस आन्तरिक शांति को प्राप्त करे, जिससे चरम सुख की प्राप्ति होती है ?

जिस समय बन्दरों का एक दल अपने में से एक को शिकारी की चोट से गिरता हुआ देखता है और उस शिकारी के तम्बू को घेर लेता है तथा बन्दूक का भय दिखाने पर भी मरे हुए बन्दर की लाश का दावा करता है, और आखिर उस दल का मुखिया खेमे के भीतर चला जाता है, पहले शिकारी को भय दिखाता है, फिर उससे अनुनय-विनय करता है और अन्त में अपने विलाप द्वारा उसे लाश को दे देने के लिए राजी करता है, तत्पश्चात् बन्दरों का दल आर्तनाद करता हुआ अपने मृत साथी को जंगल में ले जाता है। उस समय ये बन्दर अपने जीवन की सुरक्षा की अपेक्षा करुणा की जो बलवती भावना है, उसका अनुगमन करते हैं। उनकी यह भावना अन्य सब भावनाओं को परास्त कर देती है, यहां तक कि उन्हें अपने जीवन तक में कोई आकर्षण नहीं रह जाता, जबकि उन्हें इस बात का निश्चय नहीं रहता कि वे अपने मृत साथी को पुनरुज्जीवित कर सकेंगे या नहीं। उनकी यह भावना इतनी निदारुण हो उठती है कि उन बेचारे पशुओं को उससे मुक्त होने के लिए सबकुछ करना पड़ता है।

जिस समय चीटियां हजारों की संख्या में जलती हुई बाँबी, जिसमें

किसी नर-पशु ने आग लगा दी है, की ज्वालाओं की ओर बड़े वेग से अग्रसर होती हैं और अपने अंडे-बच्चों को बचाने के लिए सैकड़ों की संख्या में विनष्ट हो जाती हैं, उस समय अपनी संतान की रक्षा की जो आकांक्षा है, उसका ही वे अनुपालन करती हैं। अपने जिन बच्चों को उन्होंने बड़े यत्न से—इतना अधिक यत्न, जितना बहुत-सी स्त्रियां भी अपनी संतान के लिए नहीं करती होंगी—पाला है, उन्हें बचाने के लिए वे अपना सबकुछ खतरे में डाल देने को तैयार हो जाती हैं।

सुख का सन्धान और दुःख का परिहार, यही जीव-जगत के कार्यों की मल-रेखा है (या नियम, जैसाकि कुछ लोग कहेंगे)।

इस प्रीतिकर वस्तु के सन्धान के बिना जीवन तक असंभव हो जायगा। शरीर के अवयव छिन्न-भिन्न हो जायंगे और जीवन का अन्त हो जायगा।

इस प्रकार चाहे मनुष्य के कार्य या उसके कार्यों की मूलरेखा कुछ भी क्यों न हो, मनुष्य जो कुछ करता है, अपनी प्रकृति की कामना के आदेशानुसार करता है। अत्यंत विरागजनक कार्य भी उसी प्रकार कर्त्ता की व्यक्तिगत आवश्यकतानुसार अनुष्ठित होते हैं, जिस प्रकार साधारण या अत्यंत आकर्षक कार्य। मनुष्य जैसा चाहे, वैसा उसे करने दो, वह वही काम करेगा जिसमें उसे आनन्द मिले और ऐसे कार्य से, जिसमें उसे पीड़ा हो, विरत रहेगा।

यह एक सुप्रमाणित तथ्य है। जिसे हम 'स्वार्थवाद का सिद्धांत' कहते हैं, उसीका यह सार-तत्त्व है। अच्छा, तो क्या इस परिणाम पर पहुँचने से हमारी अवस्था कुछ अच्छी हुई है ? हां, जरूर हुई है। हमने सत्य पर विजय प्राप्त की है और एक ऐसे पूर्व-संस्कार को नष्ट कर डाला है, जो सब संस्कारों का मूल कारण है। जितने भौतिक दर्शन हैं, उनका मानवीय संबंध इस परिणाम के अन्दर आ जाता है। तो क्या इससे यह परिणाम निकलता है कि मनुष्य के जितने कार्य होते हैं वे सब विरपेक्ष होते हैं, जैसाकि कुछ लोगों ने निष्कर्ष निकाला है ? अब हमें इसी बात पर विचार करना है।

हम इस बात पर विचार कर चुके हैं कि मनुष्य के कार्यों का (उनके सुचिन्तित और सचेतन कार्यों का—अचेतन अभ्यासों के संबंध में हम आगे

चलकर विचार करेंगे) एक ही उद्‌गम-स्थान होता है। पाप और पुण्य, भक्ति और क्षुद्र दुष्टता, आकर्षक और विरागजनक कार्य, सबका एक ही उद्‌गम-स्थान होता है। इन सबका लक्ष्य होता है सुख का सन्धान, दुःख के परिहार की कामना। इस विचार के समर्थन में कितने ही तथ्य प्रमाणस्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं और उनपर संक्षिप्त रूप में पहले विचार हो चुका है।

जो लोग अब भी धार्मिक भावनाओं से अनुप्राणित हो रहे हैं, उनका इस व्याख्या पर चीत्कार करना आसानी से समझा जा सकता है। इसमें अलौकिक के लिए कोई स्थान ही नहीं है। यह अमर आत्मा के सिद्धांत का खंडन करता है। यदि मनुष्य अपनी प्रकृति की आवश्यकताओं के अनुसार आचरण करता है, यदि वह एक 'सचेतन स्वयं-चालित यंत्र' है, तो फिर अमर आत्मा क्या वस्तु है ? वह अमरता क्या चीज ह, जिसकी अन्तिम शरण वे लोग लेते हैं, जिन्होंने अपनी ज़िंदगी में बहुत ज्यादा दुःख भोगे हैं और सुख बहुत कम, और जो परलोक में अपने अभावों के मोचन का स्वप्न देख रहे हैं ?

यह समझना आसान है कि जो लोग रूढ़ियों और पूर्व-संस्कारों में पले हैं, और जिन्हें विज्ञान पर, जिसने उन्हें बहुधा धोखा दिया है, बहुत कम विश्वास है, जो लोग विचार की अपेक्षा भावना द्वारा परिचालित होते हैं, वे शुभाशुभ कर्म की इस व्याख्या को क्यों अग्राह्य कर देते हैं ? इसका कारण यही है कि यह व्याख्या उनकी अन्तिम आशा से उन्हें वंचित कर देती है।

पाप और पुण्य में भेद बताने के लिए यहूदी, बौद्ध, ईसाई और मुसलमान धर्म-शास्त्रकारों ने ईश्वरीय अनुप्रेरणा की शरण ली है। उन्होंने देखा कि मनुष्य, चाहे वह सभ्य हो या बर्बर, पंडित हो या मूर्ख, सरल हो या कुटिल, इस बात को बराबर जानता है कि वह अच्छा कर रहा है या बुरा—खासकर जब वह कोई बुरा कर्म करता है तब तो वह उसे अवश्य ही जानता है। इस साधारण बात की कोई व्याख्या उन्हें मालूम नहीं पड़ी, इसलिए उन्होंने इसका कारण 'ईश्वरीय अनुप्रेरणा' बताया। रहस्यवादी दार्शनिकों ने इसे अन्तःकरण या एक रहस्यपूर्ण 'आदेश' का संकेत बताया है; परन्तु इसमें नाम-परिवर्तन के सिवा पहली व्याख्या से और कोई भेद नहीं है। इन दोनों

में किसीकी भी समझ में यह सरल और उल्लेखनीय बात नहीं आई कि सामूहिक रूप से रहनेवाले पशु भी मनुष्य के समान ही अच्छे और बुरे की पहचान कर सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि अच्छे और बुरे के संबंध में उनकी भावना ठीक मनुष्य-जैसी ही होती है। मछली, कीट, पक्षी और स्तन्यपायी जीवों की प्रत्येक श्रेणी में जो सर्वोत्तम विकसित प्राणी होते हैं, वे ठीक मनुष्य के अनुरूप होते हैं।

चींटियों के संबंध में अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाले वैज्ञानिक फ्लोरेल ने अपने चिरकालिक अनुभव के आधार पर दिखाया है कि एक चींटी, जिसका पेट शहद से भरा हुआ है, जब खाली पेटवाली दूसरी चींटियों से मिलती है, तो वे चींटियां उससे भोजन मांगती हैं। इन छोटे-छोटे कीटों में, जिनका पेट भरा हुआ होता है, यह कर्त्तव्य समझा जाता है कि वे अपने पेट का कुछ भोजन उगल दें, जिससे उनके भूखे भाइयों की तृप्ति हो। इन चींटियों से पूछिये कि उसी बाँबी की दूसरी चींटियों को, जबकि एक चींटी को अपना हिस्सा मिल चुका है, भोजन नहीं देना क्या उचित होता? वे अपनी क्रियाओं से, जिनका अभिप्राय समझने में कोई भूल नहीं हो सकती, यह स्पष्ट बता देंगी कि ऐसा करना बिल्कुल गलत होगा। इस प्रकार के स्वार्थ पर चींटी के साथ अन्य जातियों के शत्रुओं की अपेक्षा कठोरतर बर्ताव किया जायगा। यदि दो भिन्न-भिन्न जातियों के बीच संग्राम होते समय इस प्रकार की कोई घटना हो तो चींटियां लड़ना बन्द करके अपने स्वार्थी साथी पर टूट पड़ेंगी। यह बात प्रयोग से सिद्ध हो चुकी है, इसमें सन्देह के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

अपने बागीचे में रहनेवाली गौरैया से पूछिये कि अनाज के दाने छींटे जाने पर अपने समाज के और सब गौरैयों को नोटिस देना उसके लिए उचित है या नहीं, ताकि वे सब भी वहां पहुँचकर भोजन में शामिल हो सकें? उससे पूछिये कि अपने पड़ोस की गौरैयों के घोंसले से एक पुआल चुराकर एक दूसरे गौरैया ने, जिसे वह चोर पक्षी आलस्य के कारण खुद जाकर संग्रह नहीं कर सकता था, क्या उचित किया है? वे सब गौरैया उस डाकू पक्षी

पर आक्रमण कर उसे चोंच से मार-मारकर यह उत्तर देंगी कि उसने बहुत बुरा काम किया है।

पहाड़ी चूहों से पूछिये कि क्या उनकी जाति के एक पहाड़ी चूहे के लिए यह उचित है कि वह अपने तहखाने के भंडार में उसी स्थान के रहनेवाले अपने जाति-भाइयों को नहीं घुसने दे? वे उस कंजूस चूहे के साथ सब प्रकार से लड़-झगड़कर यह बता देंगे कि ऐसा करना बहुत ही अनुचित है।

एक जंगली आदमी से पूछिये कि उसके दल के किसी व्यक्ति के तम्बू में—जिस समय वह उपस्थित न हो—भोजन करना क्या उचित है? तो वह उत्तर देगा कि यदि वह आदमी अपना भोजन स्वयं ही प्राप्त कर सकता है तो उसके लिए ऐसा करना बहुत ही अनुचित है। परन्तु यदि वह थका हुआ हो या उसके लिए भोजन का अभाव हो तो उसे जहां भोजन मिले, वहां ग्रहण कर लेना चाहिए; किन्तु ऐसी दशा में उसके लिए यह अच्छा होगा कि वह अपनी टोपी या छुरी या रस्सी का एक टुकड़ा वहां छोड़ दे, जिससे बाहर गया हुआ शिकारी जब लौटकर आये, तो उसे इस बात का पता चल जाय कि उसका कोई बन्धु वहां आया था—कोई चोर या डाकू नहीं। इससे वह इस परेशानी से बच जायगा कि उसकी अनुपस्थिति में उसके खेमे के पास शायद कोई डाकू या लुटेरा तो नहीं आया।

इस प्रकार की हजारों बातें कही जा सकती हैं, बल्कि पूरी किताबें लिखी जा सकती हैं, जिनसे यह मालूम होगा कि मनुष्यों तथा पशुओं में अच्छे और बुरे की भावनाएं किस प्रकार एक समान होती हैं।

उस चींटी, पक्षी, चूहे अथवा जंगली आदमी ने काण्ट के दर्शन या धर्माचार्यों के धर्मोपदेश नहीं पढ़े। यदि आप एक क्षण के लिए इस बात पर विचार करें कि इस भावना के अन्दर कौन-सा रहस्य छिपा हुआ है तो आपको प्रत्यक्ष मालूम हो जायगा कि चींटियों, चूहों, ईसाइयों या नास्तिक सदाचारियों में जो कुछ अच्छा समझा जाता है, वह यह है कि जिससे उनकी जाति के संरक्षण में लाभ पहुँचे; और जिससे उनकी जाति के संरक्षण में हानि पहुँचे, वह बुरा समझा जाता है। केवल व्यक्ति के संरक्षण के लिए नहीं—

जैसाकि बैन्थम और मिल ने कहा है—बल्कि संपूर्ण जाति के संरक्षण के लिए जो अच्छा है, दरअसल वही अच्छा है।

इस प्रकार भले और बुरे की भावना के साथ धर्म या रहस्यपूर्ण अन्तःकरण का कोई संबंध नहीं है, प्राणियों में स्वतः इसका बीज निहित रहता है। धर्म-संस्थापक, दार्शनिक और सदाचारपंथी जब ईश्वरीय या आध्यात्मिक सज़ा की बात बताते हैं तो वे उसी बात को अन्य रूप में कहते हैं, जिसका आचरण प्रत्येक चींटी और गौरैया अपने क्षुद्र समाज में करती है।

क्या यह समाज के लिए लाभदायक है ? यदि हां, तब तो यह अच्छा है। क्या यह हानिकारक है ? यदि हां, तो यह खराब है। निम्नतर प्राणियों में यह भावना बहुत ही संकुचित हो सकती है, उनकी अपेक्षा उन्नत प्राणियों में यह अधिक विकसित हो सकती है; पर उसका मूलतत्त्व बराबर एक समान ही बना रहता है।

चींटियों में उनकी बाँबी से बाहर इस भावना का विस्तार नहीं होता। सामाजिक रीति-नीति तथा सदाचरण के कुल नियमं उस बाँबी की चींटियों तक ही परिमित रहते हैं, किसी दूसरे के साथ नहीं। एक बाँबी की चींटियां किसी दूसरी चींटी को, सिवा अपवाद की दशाओं में (जैसे, दोनों पर एक समान ही विपत्ति पड़ी हो), अपनी जाति की नहीं समझेंगी। इसी प्रकार एक स्थान में रहनेवाली गौरैया यद्यपि परस्पर एक-दूसरे की सहायता विशेष रूप से करेंगी तथापि किसी दूसरे स्थान की गौरैया के साथ, जो उनके स्थान में आने का साहस करे, जान पर खेल कर लड़ेगी। एक जंगली आदमी किसी दूसरे दल के जंगली आदमी को एक ऐसा मनुष्य समझेगा, जिसके प्रति उसके दल की रीति-नीति लागू नहीं हो सकती। उसके हाथ कोई चीज बेचना भी जायज है; चूंकि बेचने का अर्थ ही है खरीदार को न्यूनाधिक रूप में ठगना, और बिक्री में कोई-न-कोई जरूर ठगा जाता है—बेचनेवाला या खरीदार। किसी-किसी जंगली जाति का आदमी अपने दलवालों के हाथ कोई चीज बेचना अपराध समझता है, उन्हें वह बिना किसी गिनती के ही दे देता है। सभ्य मनुष्य—जबकि वह यह समझता है कि अपने तथा मनुष्य-जाति के साधारण-

से-साधारण व्यक्ति के बीच घनिष्ट संबंध है, और यह संबंध पहली बार के देखने से प्रत्यक्ष नहीं होता—संपूर्ण मानव-जाति, यहांतक कि पशुओं के प्रति भी, एकता के सिद्धांतों का विस्तार करेगा। माना कि सभ्य मनुष्य की यह भावना अत्यंत विस्तृत होती है; किन्तु उसका मूल आधार एक समाज से बना रहता है।

दूसरी ओर अच्छे या बुरे की भावना बुद्धि या अर्जित ज्ञान की मात्रा के अनुसार बदलती रहती है। इसमें कोई बात ऐसी नहीं होती जो बदली न जा सके।

जंगली आदमी इस बात को बहुत ठीक (अर्थात् अपनी जाति के लिए लाभदायक) समझ सकता है कि वह अपने वृद्ध माता-पिता को, जबकि वे समाज के लिए भार-स्वरूप हों, चट कर जाय। वह समाज के लिए यह भी लाभदायक समझ सकता है कि वह अपने नवजात बच्चों की हत्या कर डाले और प्रत्येक परिवार में सिर्फ दो या तीन बच्चों को रहने दे, जिससे मां तीन वर्ष तक बच्चे को दूध पिला सके और उन्हें अधिक-से-अधिक लाड़-प्यार कर सके।

आधुनिक समय में विचारों में परिवर्तन हो गया है। जीवन-धारण के जो साधन प्रस्तर-युग में थे, वे अब नहीं रहे। इस समय का सभ्य मनुष्य उस जंगली परिवार की स्थिति में नहीं है, जिसे दो बुराइयों में से एक को चुन लेना पड़ता था—या तो वह अपने वृद्ध माता-पिता को चट कर जाय, या फिर सारे परिवार को काफी पुष्टिकर भोजन नहीं दे सके और शीघ्र ही अपने वृद्ध माता-पिता और बच्चों को खिलाने में असमर्थ हो जाय। पहले हमें कुछ समय के लिए अपनेको उस युग में ले जाना चाहिए, जिसे हम कदाचित ही अपने मन में ला सकते हैं। तब हम इस बात को समझ सकते हैं कि उस समय जैसी अवस्थाएं थीं, उनमें अर्द्ध-सभ्य मनुष्य का इस प्रकार तर्क करना ठीक हो सकता था। विचार-प्रणाली में परिवर्तन हो सकता है। जाति के लिए क्या लाभदायक है और क्या हानिकारक—इस संबंध में हमारा जो अनुमान है, उसमें परिवर्तन हो सकता है, किन्तु उसका मूल आधार एक ही रहता है।

यदि हम जीव-जगत के संपूर्ण दर्शन को एक ही वाक्य में कहना चाहें, तो हम देखेंगे कि चींटी, पक्षी, चूहा और मनुष्य—सब एक बात पर सहमत हैं। संपूर्ण जीव-जगत को ध्यानपूर्वक देखने से जिस नीति-ज्ञान का बोध होता है, उसे हम थोड़े शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं—"दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा उनकी जैसी अवस्था में होने पर तुम स्वयं अपने साथ किया जाना पसंद करोगे।"

और इस नीति-विज्ञान में यह भी कहा गया है—"इस बात पर ध्यान रखो कि यह सिर्फ एक सलाह है; किन्तु इसके साथ ही यह समाज के प्राणियों के दीर्घ अनुभव का परिणाम है। सामाजिक प्राणियों में, जिसमें मनुष्य भी शामिल है, इस सिद्धांत पर कार्य करना एक अभ्यास जैसा हो गया है। बिना इसके कोई भी समाज कायम नहीं रह सकता। बिना इसके कोई भी जाति प्राकृतिक बाधाओं पर, जिनके विरुद्ध उसे संग्राम करना पड़ता है, विजय प्राप्त नहीं कर सकती।"

क्या सचमुच यही साधारण सिद्धांत सामाजिक जीव-जन्तुओं और मानव-संस्थाओं के निरीक्षण से उत्पन्न होता है? और यह सिद्धांत किस प्रकार अभ्यास के रूप में परिणत होता है और निरन्तर विकसित होता रहता है? हमें अब इस बात पर विचार करना है। अच्छे और बुरे की भावना मानव के अन्दर ही मौजूद रहती है। मनुष्य—चाहे वह कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो, या उसकी भावनाएं पक्षपात और व्यक्तिगत स्वार्थ से कितनी ही म्लान क्यों न हो गई हों—उसी बात को अच्छा समझता है जो समाज के लिए लाभदायक है। समाज के लिए जो हानिकारक हो, उसे वह बुरा समझता है।

किन्तु यह धारणा कहां से उत्पन्न होती है, जो बहुधा इतनी अस्पष्ट हुआ करती है कि अनुभूति से उसे पृथक समझना कठिन हो जाता है? इस प्रकार के लाखों मनुष्य हैं, जिन्होंने मानव-जाति के संबंध में कभी कुछ सोचा ही नहीं। उनका ज्ञान मुख्यतः अपनी जाति या परिवार तक ही सीमित रहता है। राष्ट्र को वे कदाचित ही जानते हैं, मानव-जाति

को तो और भी कम जानते हैं। फिर यह किस प्रकार संभव हो सकता है कि वे मानव-जाति के लिए जो शुभ हो, उसे लाभदायक समझें, या अपने संकीर्ण आत्म-परायण स्वार्थों के होते हुए भी अपने वंश के साथ भी एकता की अनुभूति प्राप्त करें ?

सभी युगों के मनीषी विद्वानों ने इस तथ्य पर विशेष रूप से विचार किया हैं, और इस समय भी विचार कर रहे हैं। हम भी इस विषय पर अपना विचार प्रकट करते हैं। किन्तु इस प्रसंग में हम यह भी कह देना चाहते हैं कि यद्यपि इस तथ्य की व्याख्याएं भिन्न-भिन्न हो सकती हैं; पर स्वयं तथ्य के संबंध में कोई विवाद नहीं रह जाता। और यदि हमारी व्याख्या सच्ची न हो, अथवा वह अपूर्ण हो, तो भी यह तथ्य मानव-जाति के प्रति अपने परिणामों के साथ ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। सूर्य के चारों ओर ग्रह-नक्षत्र क्यों घूमते हैं ? इसकी पूर्ण रूप से व्याख्या करने में हम असमर्थ हो सकते हैं; किन्तु फिर भी नक्षत्रों के घूमने में कोई अन्तर नहीं पड़ता और उनमें से एक पर, यानी पृथ्वी पर, हम विद्यमान हैं।

धार्मिक व्याख्या के सम्बन्ध में हम जिक्र कर चुके हैं। धर्मशास्त्रकारों का कहना है कि भगवान द्वारा अनुप्राणित होकर ही मनुष्य भले-बुरे की तथा पाप-पुण्य की पहचान करता है। उसका काम यह नहीं है कि वह इस बात का अनुसंधान करे कि क्या लाभदायक है और क्या हानिकारक। उसका काम है केवल अपने स्रष्टा के आदेश का पालन करना। इस व्याख्या पर, जो असभ्य युग के भय और अज्ञान का परिणाम थी, हम कुछ विशेष कहना नहीं चाहते। इसकी उपेक्षा करके आगे बढ़ते हैं।

कुछ लोगों ने इस तथ्य की व्याख्या कानून द्वारा करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि कानून ने ही मनुष्य में न्याय और अन्याय तथा सद् और असद् का ज्ञान विकसित किया है। पाठक इस व्याख्या के संबंध में स्वयं विचार कर सकते हैं। वे इस बात को जानते हैं कि कानून ने केवल मनुष्य की सामाजिक अनुभूतियों का उपयोग-मात्र किया है। कानून ने नैतिक उपदेशों के बीच में ऐसी बातें घुसेड़ दी हैं, जो शोषण करनेवाले अल्प जन-समुदाय के

लिए लाभजनक हों; पर जिनके अनुसार आचरण करने में साधारण मनुष्य की प्रकृति इनकार करती है। कानून ने न्याय की भावना को विकसित करने के बदले उसे और भी विकृत कर दिया है। अच्छा, अब हम आगे बढ़ें।

उपयोगितावादियों की व्याख्या पर भी रुकने की जरूरत नहीं। वे इस बात को मान लेते हैं कि मनुष्य स्वार्थवश नैतिक दृष्टि से कार्य करता है; पर वे यह भूल जाते हैं कि मनुष्य के अन्दर अपनी संपूर्ण जाति के प्रति एकता की भावना मौजूद रहती है, चाहे उसका मूल कारण कुछ भी क्यों न हो। उपयोगितावादियों की व्याख्या में कुछ सत्य अवश्य है, किन्तु यह संपूर्ण सत्य नहीं है।

अठारहवीं शताब्दी के विचारशील विद्वानों के सामने हम इस बात के लिए ऋणी हैं कि उन्होंने नैतिक चित्तवृत्ति के आदि कारण का कम-से-कम आंशिक रूप में तो अनुमान किया था।

ऐडम स्मिथ ने 'नैतिक चित्तवृत्तियों का सिद्धांत' (दी थ्योरी आव मोरल सेन्टिमेण्ट्स) नामक पुस्तक में नैतिक चित्तवृत्ति के सच्चे मूल कारण पर प्रकाश डाला है। वह रहस्यपूर्ण धार्मिक अनुभूतियों में इसका सन्धान नहीं करता; वह इसे सिर्फ समवेदना की अनुभूति में पाता है।

आप एक मनुष्य को किसी बच्चे को पीटते हुए देखते हैं। आप यह जानते हैं कि पीटे जानेवाले बच्चे को कष्ट पहुंचता है। आपकी कल्पना-शक्ति आपके अन्दर वही पीड़ा उत्पन्न कर देती है, जो पीड़ा उस बच्चे को दी गई है, या उस बच्चे के आँसू तथा उसका पीड़ित चेहरा आपको कष्ट की अनुभूति करा देते हैं। और यदि आप भीरु नहीं हैं तो आप उस नर-पशु पर—जो बच्चे को पीट रहा है—टूट पड़ते हैं और उस बच्चे का उद्धार करते हैं।

इस उदाहरण से ही प्रायः समस्त नैतिक चित्तवृत्तियों की व्याख्या हो जाती है। आपकी कल्पना-शक्ति जितनी ही प्रखर होगी, उतनी ही कुशलता के साथ आप अपने मन में इस बात का चित्र चित्रित कर सकते हैं कि पीड़ित होने पर किसी प्राणी का अनुभव कैसा होता है और इसके अनु-

रूप ही आपका नैतिक ज्ञान गहरा और कोमल होगा। जितना ही अधिक आप अपनेको दूसरे मनुष्य की स्थिति में रखेंगे, उतना ही अधिक आप उसकी पीड़ा का, उसके अपमान का, उसके प्रति किये गए अन्याय का, अनुभव करेंगे, और उसी मात्रा में आपके अन्दर कार्य करने की प्रेरणा उत्पन्न होगी, जिससे आप पीड़ा, अपमान या अन्याय का निवारण कर सकें। अवस्थाओं द्वारा, अपने आसपास के लोगों की वजह से, या अपने विचारों की प्रगाढ़ता के कारण आप अपने विचार और कल्पना-शक्ति से प्रेरित होकर जितना ही अधिक कार्य करेंगे, उतना ही अधिक नैतिक उच्छ्वास आपमें उत्पन्न होगा और उतना ही अधिक आप उसके अभ्यस्त हो जायंगे।

ऐडम स्मिथ ने अनेक दृष्टान्त देकर अपनी पुस्तक में इसी सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है। अपनी युवावस्था में उसने इस पुस्तक की रचना की थी; किन्तु उसकी यह कृति उसकी वृद्धावस्था की रचना 'राजनैतिक अर्थ-शास्त्र' की अपेक्षा कहीं अच्छी है। धार्मिक पक्षपात से मुक्त होकर उसने मानव-प्रकृति के भौतिक तथ्यों में नीति-ज्ञान की व्याख्या का अनुसन्धान किया था, और यही कारण है कि सरकारी और गैर-सरकारी लोगों ने धार्मिक पक्षपात के कारण एक शताब्दी तक इस पुस्तक को वर्जित करके रखा।

ऐडम स्मिथ की एकमात्र भूल यही थी कि उसने इस बात को नहीं समझा था कि सहानुभूति की यह भावना मनुष्यों के समान जानवरों में भी पाई जाती है।

समाज में रहनेवाले सभी जानवरों में एकता की भावना विशेष रूप में दीख पड़ती है। गरुड़ पक्षी गौरैयों को निगल जाता है और भेड़िया पहाड़ी चूहे को चट कर जाता है। किन्तु गरुड़ और भेड़िये शिकार खेलने में अपनी-अपनी जाति की सहायता करते हैं। गौरैया और पहाड़ी चूहे शिकार करनेवाले पशु-पक्षियों के विरुद्ध इस प्रकार आपस में मेल कर लेते हैं कि उनमें जो बोदा होता है, वही शिकारी के चंगुल में फँसता है। पशु-समाज में जीवन-संग्राम की होड़—जिसका गुणगान शासक दल प्रत्येक अवसर

पर करता रहता है, जिससे हम लोगों की उन्नति रुक जाय—की अपेक्षा यह एकता विशेष महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक नियम है।

जब हम पशु-जगत का अध्ययन करते हैं और अपने मन में इस बात की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं कि प्रत्येक प्राणी प्रतिकूल अवस्थाओं और अपने शत्रुओं के विरुद्ध जीवन-संग्राम जारी रखता है, तब हमें इस बात का अनुभव होता है कि पशु-समाज में एकता और समानता के सिद्धांत जितने ही अधिक विकसित होते हैं और उनसे वह जितना अधिक अभ्यस्त होता है, उतना ही उसे इस बात का मौका मिलता है कि वह कठिनाइयों और शत्रुओं के विरुद्ध संग्राम करके विजयी हो और जीवित रहे। समाज का प्रत्येक अंग समाज के दूसरे अंग के साथ अपनी एकता को जितने ही सम्यक् रूप में अनुभव करता है, उतने ही पूर्ण रूप में उन सब में दो गुणों का विकास होता है। वे दो गुण हैं—साहस और स्वतन्त्र वैयक्तिक नेतृत्व। और यही सब प्रकार की प्रगतियों के मुख्य कारण हैं। इसके विपरीत, किसी पशु-समाज या क्षुद्र पशु-दल में एकता की यह अनुभूति जितनी कम होगी, उतना ही अधिक उसमें प्रगति के दो कारणों का—साहस और वैयक्तिक नेतृत्व का—ह्रास होता जायगा। इस एकता के भाव का ह्रास या तो चीजों के बिल्कुल ही अभाव से अथवा उनके बहुत ज्यादा होने से उत्पन्न होता है। अन्त में ये दो गुण सर्वथा लुप्त हो जाते हैं, और समाज क्षीण होकर अपने शत्रुओं के सामने परास्त हो जाता है। बिना पारस्परिक विश्वास के कोई संग्राम सम्भव नहीं है। साहस, वैयक्तिक नेतृत्व अथवा एकता के बिना विजय प्राप्त नहीं हो सकती—पराजय निश्चित है।

बहुसंख्यक दृष्टान्तों द्वारा हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि किस प्रकार पशु और मानव-जगत में पारस्परिक सहायता का नियम प्रगति का नियम है, और किस प्रकार सहायता और उसके साथ-साथ साहस और वैयक्तिक नेतृत्व से उस श्रेणी की जीत होती है, जो इसका अभ्यास करने में विशेष सामर्थ्य रखती है।

अब हम एकता की उस अनुभूति की कल्पना करें, जो युग-युगान्तर

से—जबसे इस भूमंडल पर पशु-जीवन का प्रारम्भ हुआ—काम कर रही है। हम इस बात की कल्पना करें कि किस प्रकार यह अनुभूति क्रमशः अभ्यास के रूप में परिणत हो गई और वंशानुक्रम द्वारा सूक्ष्मतर जीवों से उनके वंशजों में—कीट, पक्षी, सरीसृप, पशु और मनुष्य में—संचारित हो गई, और तब हम नैतिक भावना के आदि कारण को हृदयंगम कर सकेंगे, जो पशुओं के लिए उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार भोजन या उसे पचाने की इन्द्रिय-विशेष।

नैतिक अनुभूति का यही मूल कारण है। इस महान् प्रश्न पर यद्यपि हमने संक्षेप में विचार किया है; किन्तु जो कुछ कहा गया है, वह यह दिखलाने के लिए काफी है कि इसमें कोई रहस्य या भावुकता की बात नहीं है। व्यक्ति का जाति के साथ एकता का जो यह सम्बन्ध है, वह यदि न होता, तो पशु-राज्य का न तो विकास हुआ होता, और न वह अपनी वर्त्तमान पूर्णता पर पहुंचता। पृथ्वी पर रहनेवाले सबसे प्रगतिशील प्राणी भी इस समय जल के ऊपर तैरनेवाले कीटाणुओं की तरह सूक्ष्मवीक्षण यंत्र से भी कठिनता से देखे जाते। किन्तु क्या उनका अस्तित्व भी सम्भव था? क्योंकि क्षुद्र कोषों की आदिम समष्टि क्या इस संग्राम में एकता का उदाहरण नहीं है?

इस प्रकार पशु-राज्य का निष्पक्ष दृष्टि से निरीक्षण करने पर हम इस परिणाम पर पहुंचते ह कि जहां समाज का अस्तित्व है, वहां यह सिद्धान्त अवश्य पाया जायगा—"दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा उसी अवस्था में तुम अपने साथ किया जाना पसंद करते हो।"

पशु-जगत के विकास का जब हम ध्यानपूर्वक अध्ययन करते हैं तो हमें इस बात का पता चलता है कि उपर्युक्त सिद्धान्त ने, जिसका सारांश एक शब्द 'एकता' में दिया गया है, पशु-राज्य के विकास में जितना काम किया है, उतना उन सब उपयोगिताओं ने नहीं किया जो व्यक्तिगत सुविधाएं प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों के बीच होनेवाले संग्राम के फल-स्वरूप उत्पन्न हुई हैं।

यह प्रत्यक्ष है कि मानव-समाज में यह एकता और भी विशेष मात्रा में पाई जाती है। बन्दरों के समाज में भी हमें इस व्यावहारिक एकता का उल्लेखनीय दृष्टान्त दीख पड़ता है। मनुष्य ने तो इस दिशा में एक कदम और आगे बढ़ाया है। इस एकता के कारण ही मनुष्य, प्राकृतिक बाधाओं के होते हुए भी, अपनी क्षुद्र जाति को सुरक्षित रखने में तथा अपनी बुद्धि को विकसित करने में समर्थ हुआ है। जंगली मनुष्यों के उन समाजों का, जो इस समय भी प्रस्तर-युग से आगे नहीं बढ़े हैं, ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने से हमें इस बात का पता चलता है कि किस प्रकार एक ही समाज के मनुष्य परस्पर एकता का अभ्यास करते हैं।

यही कारण है कि व्यावहारिक एकता कभी रुकती नहीं, मानव-इतिहास के सबसे खराब समय में भी वह कायम रहती है, यहांतक कि जब प्रभुत्व, दासता और शोषण की क्षण-स्थायी अवस्थाओं के उत्पन्न हो जाने से एकता का सिद्धान्त अस्वीकृत हो जाता है, उस समय भी बहुत-से लोगों के विचारों में वह कायम रहती है और दूषित संस्थाओं के विरुद्ध उसकी प्रबल प्रतिक्रिया क्रान्ति के रूप में होती है। यदि ऐसा न हो तो समाज का अन्त ही हो जाय।

बहुसंख्यक मनुष्य और पशुओं में यह अनुभूति वर्त्तमान रहती है और एक अभ्यास के रूप में इसे कायम रहना ही चाहिए। यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो मन में बराबर उपस्थित रहता है, चाहे क्रिया में उसकी निरन्तर उपेक्षा ही क्यों न हो रही हो।

इसमें हमें पशु-जगत के सम्पूर्ण विकास का स्पष्ट आभास मिलता है। यह विकास बहुत दिनों से चला आ रहा है। इसे करोड़ों वर्ष बीत चुके। यदि हम इससे मुक्त होना चाहें, तो भी नहीं हो सकते। मनुष्य के लिए अपने दो हाथों और दो पांवों से जानवरों की तरह चलने का अभ्यास करना सहज हो सकता है; किन्तु इस नैतिक अनुभूति से मुक्त होना सहज नहीं।

घ्राणेन्द्रिय या स्पर्शेन्द्रिय के बोध की तरह नैतिक बोध भी हमारे अन्दर एक प्रकार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कानून और धर्म ने भी इस सिद्धान्त

का उपदेश दिया है; किन्तु विजेता, शोषणकर्त्ता और पुरोहितों के लाभ के लिए अपने आदेशों पर पर्दा डालने के उद्देश्य से ही उन्होंने इस सिद्धान्त की चोरी की है। एकता के इस सिद्धान्त के बिना, जिसकी न्यायशीलता के सब लोग कायल हैं, वे मनुष्यों के मन पर अपना अधिकार ही किस प्रकार जमा सकते थे ?

कानून और धर्म ने इस सिद्धान्त का लबादा अपने ऊपर ओढ़ लिया है—ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार अधिकारी अपने को बलवानों के विरुद्ध दुर्बलों का रक्षक बताकर अपनी स्थिति का औचित्य सिद्ध करते हैं।

कानून, धर्म और शासन का परित्याग करके मनुष्य-जाति उस नैतिक सिद्धान्त को पुनः प्राप्त कर सकती है, जो उससे छीन लिया गया है। उसे फिर से प्राप्त करना सलिए आवश्यक है कि मनुष्य उसकी समालोचना कर सके, और उसे उन विकारों से मुक्त कर सके, जिनसे पुरोहित, न्याय-कर्त्ता और शासक ने उसे विषाक्त बना डाला है और इस समय भी बना रहे हैं।

"दूसरे के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा तुम अपने साथ किया जाना पसन्द करते हो", यही तो अराजकता का मौलिक सिद्धान्त है और तबतक कोई अपनेको अराजकवादी (अनार्किस्ट) क्योंकर समझ सकता है, जबतक कि वह इस सिद्धान्त के अनुसार आचरण न करे ?

हम लोग अपने ऊपर किसीका शासन नहीं चाहते। क्या इसी बात से हम इस तथ्य की घोषणा नहीं करते कि हम किसीपर शासन नहीं करना चाहते ? हम किसीसे ठगा जाना पसन्द नहीं करते। हम बराबर सत्यशील बनना चाहते हैं। क्या इसी बात से हम यह घोषणा नहीं करते कि हम किसी को धोखा देना नहीं चाहते, हम सदा सत्य (सम्पूर्ण सत्य, एकमात्र सत्य ही) बोलने की प्रतिज्ञा करते हैं ? हम यह नहीं चाहते कि हमारे परिश्रम की कमाई हमसे कोई चुरा ले, तो क्या इस बात से हम यह घोषणा नहीं करते कि हम दूसरों के परिश्रम की कमाई के प्रति आदर-भाव रखते हैं ?

हम किस हक से यह दावा कर सकते हैं कि हमारे साथ तो एक प्रकार

का व्यवहार हो और हम दूसरों के साथ बिल्कुल दूसरे ढंग से व्यवहार करें ? इस प्रकार की भावना के विरुद्ध हमारा समानता का ज्ञान विद्रोह कर बैठता है ।

परस्पर के व्यवहार में समानता और इससे उत्पन्न होनेवाली एकता, यही पशु-जगत का सबसे बढ़कर शक्तिशाली शस्त्र है, जिससे उसे जीवन-संग्राम में सहायता मिलती है। समानता ही न्याय है ।

अपने को अराजकवादी घोषित करके हम इस बात की पहले घोषणा कर देते हैं कि हम दूसरों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करना नहीं चाहते, जिस प्रकार का व्यवहार हम अपने साथ किया जाना पसन्द नहीं करते । हम अब इस अन्याय को सहन नहीं करेंगे, जिसके कारण हममें से कुछ लोगों ने अपनी शक्ति, चालाकी या योग्यता का इस ढंग से उपयोग किया है, जिस ढंग से उक्त गुणों का अपने प्रति प्रयोग किये जाने पर हम बेहद नाराज हो उठेंगे । सब बातों में समानता, जो न्याय का पर्यायवाची शब्द है, यही सक्रिय अराजकता है । इससे हम सिर्फ कानून, धर्म और प्रभुता—इस त्रिमूर्ति के विरुद्ध ही युद्ध की घोषणा नहीं करते, बल्कि अराजकवादी बनकर हम ठगी, धूर्तता, शोषण, भ्रष्टता, पाप—एक शब्द में असमानता—के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करते हैं, जो हमारे हृदय में कानन, धर्म तथा शासन ने डाल दी है । वे जिस ढंग से कार्य करते हैं, जिस ढंग से विचार करते हैं, उसके विरुद्ध हम युद्ध की घोषणा करते हैं । शासित, वंचित, शोषित और दूषित—ये सबसे बढ़कर हमारे समानता के ज्ञान पर आघात पहुंचाते हैं । समानता के नाम पर हम इस बात के लिए कृतसंकल्प हैं कि समाज में कोई स्त्री-पुरुष भ्रष्ट, शोषित, वंचित और शासित रूप में न रह जाय ।

अबतक हम मनुष्य के सचेतन-विवेचनायुक्त कार्यों की—ऐसे कार्यों की, जिन्हें वह जान-बूझकर करता है—चर्चा करते आये हैं; किन्तु हमारे इस सचेतन जीवन के साथ-साथ एक अचेतन जीवन भी है, जो बहुत ही व्यापक है । प्रातःकाल में हम किस प्रकार की पोशाक पहनते हैं; यह

जानते हुए भी कि रात में कोट का एक बटन खो गया है, हम बटन लगाने की कोशिश करते हैं, और जिस चीज को हमने खुद हटाकर अलग कर दिया है, उसे लेने के लिए हाथ फैलाने की चेष्टा करते हैं—यह देखकर ही हमें अपनी इन क्रियाओं में उस अचेतन जीवन का आभास मिल सकता है, और हम इस बात का अनुभव कर सकते हैं कि हमारे अस्तित्व में इसका कितना बड़ा स्थान है।

दूसरों के साथ हमारा जो सम्बन्ध है, उसमें तीन-चौथाई भाग इस अचेतन जीवन का है। हम जिस प्रकार बोलते हैं, हँसते हैं, वाद-विवाद में उत्तेजित हो जाते हैं, या शान्त रहते हैं, हमारे ये सब काम अनिच्छाकृत होते हैं। ये हमारे अभ्यास के परिणामस्वरूप हैं, जिसे हमने अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया है, अथवा चेतन या अचेतन रूप में पाया है।

हम लोग दूसरों के साथ जिस प्रकार का आचरण करते हैं, वह इस प्रकार अभ्यासगत हो जाता है। कोई जैसा अपने साथ व्यवहार किया जाना पसन्द करता है, वैसा ही दूसरों के साथ व्यवहार करना, मनुष्य के लिए तथा समस्त सामाजिक प्राणियों के लिए अभ्यास-सा बन जाता है। यह अभ्यास इतना बद्धमूल हो जाता है कि मनुष्य अपने-आप से यह पूछता तक नहीं कि उसे ऐसी अवस्थाओं में किस प्रकार का आचरण करना चाहिए। अवस्था-विशेष में, या किसी जटिल विषय में, अथवा किसी शक्तिशाली मनोविकार के आवेश में आकर मनुष्य आगा-पीछा सोचने लगता है और उसके मस्तिष्क के विभिन्न भागों में संग्राम-सा होने लगता है; क्योंकि मस्तिष्क एक जटिल चीज है, जिसके विभिन्न भाग एक निश्चित सीमा तक एक-दूसरे से बिल्कुल स्वाधीनतापूर्वक कार्य करते हैं। जब इस प्रकार की घटना होती है तो मनुष्य अपनी कल्पना में अपने विरोधी मनुष्य के स्थान में अपनेको रखकर अपने-आप से पूछता है कि क्या वह अपने साथ इस प्रकार का व्यवहार किया जाना पसन्द करेगा, वह अपनेको उस व्यक्ति से, जिसकी प्रतिष्ठा या स्वार्थ पर वह क्षति पहुंचानेवाला था, जितना ही

अधिक अभिन्न समझेगा, उतना ही अधिक नीतियुक्त उसका निर्णय होगा। या यह भी हो सकता है कि उसका कोई मित्र आ जाय, और उससे कहे—"अपनेको उसके स्थान में कल्पना कर लो। जैसा तुमने उसके साथ व्यवहार किया है, वैसा ही व्यवहार यदि तुम्हारे साथ किया जाता तो क्या तुम सहन करते ?" बस, इतना ही काफी है।

इससे यह सिद्ध होता है कि हम समानता के सिद्धान्त के नाम पर उसी अवस्था में अपील करते हैं, जब हम स्वयं संशय में पड़ जाते हैं, और फी-सदी ९९ अवसरों पर हम अभ्यास के कारण नीतिसंगत आचरण करते हैं।

यह प्रत्यक्ष है कि अबतक हमने जो कुछ कहा है, उसमें किसी प्रकार के आदेश देने की चेष्टा नहीं की है। हमने केवल इस बात का निर्देश कर दिया है कि पशु-जगत और मनुष्य-समाज में किस प्रकार घटनाएं हुआ करती हैं।

प्राचीनकाल में मनुष्य को नीति-ज्ञान की शिक्षा देने के लिए धर्माधिकारीगण नरक का भय दिखलाया करते थे। परिणाम-स्वरूप लोग उल्टे और नीति-भ्रष्ट बन जाते थे।

जज लोग उन सामाजिक सिद्धान्तों के नाम पर, जिन्हें उन्होंने समाज से चुरा लिया है, कैद, बैंत और फांसी की सजा की धमकी देते हैं, और वे उन्हें नीति-भ्रष्ट कर डालते हैं। फिर भी जब यह कहा जाता है कि जज लोग भी पुरोहितों की तरह इस मानव-समाज से उठ जायंगे तो अधिकारी लोग चिल्लाने लगते हैं कि इससे तो समाज को बड़ा खतरा है।

किन्तु हम जजों और उनके दण्डों की उपेक्षा करने से डरते नहीं। हम सब प्रकार के आदेशों की; यहां तक कि सदाचार के दायित्व की भी, उपेक्षा करते हैं। हम यह कहने से डरते नहीं कि—"तुम जो कुछ करना चाहते हो, तुम्हारी जैसी इच्छा हो, करो," क्योंकि हमारा यह विश्वास है कि अधिकांश मनुष्यों का जिस अनुपात में ज्ञान बढ़ेगा और जिस पूर्णता के साथ वे वर्त्तमान बन्धनों से अपनेको मुक्त करेंगे, उसी अनुपात में वे समाज के लिए सदा लाभदायक दिशा में कार्य करेंगे, ठीक वैसे ही, जैसे हम लोग

पहले ही यह विश्वास कर लेते हैं कि बच्चा किसी दिन अपने दो पांवों से चलेगा, न कि चारों हाथ-पैरों से; क्योंकि माता-पिता से उसका जन्म हुआ है और वह मनुष्य-जाति का है।

हम लोग सिर्फ इतना ही कर सकते हैं कि सलाह दें। सलाह देते समय हम इतना और कहते हैं—"यदि तुम्हारा अपना अनुभव और समीक्षा तुम्हें यह नहीं बतलावे कि यह सलाह मानने योग्य है तो इस सलाह का कोई मूल्य न होगा।"

हम जब किसी युवक को झुकते हुए और अपनी छाती तथा फेफड़ों को सिकोड़ते हुए देखते ह तो हम उसे सलाह देते हैं कि वह सीधा हो जाय, अपने मस्तक को ऊँचा रखे और छाती को तानकर चले। हम उसे यह सलाह देते हैं कि वह अपने फेफड़ों को हवा से भरे और जोर-जोर से सांस ले, क्योंकि क्षय रोग से बचने का यही सर्वोत्तम उपाय है। किन्तु इसके साथ ही हम उसे शरीर-विज्ञान की भी शिक्षा देते हैं, जिससे वह फेफड़ों की क्रियाएं समझ सके और अपने लिए ऐसी चाल-ढाल चुन ले, जिसे वह सर्वोत्तम समझता है।

नीति के सम्बन्ध में भी हम इतना ही कर सकते हैं। हमें सलाह देने भर का अधिकार है, इसके साथ-साथ हम इतना और कहते हैं—"यदि यह सलाह तुम्हें अच्छी लगे तो इसके अनुसार कार्य करो।"

किन्तु यद्यपि हम प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार देते हैं कि वह अपनी समझ के अनुसार कार्य करे और समाज को यह अधिकार बिल्कुल नहीं देते कि वह किसी व्यक्ति को समाज-विरोधी कार्य करने के लिए किसी भी रूप में दण्ड दे, तथापि जो बात अच्छी लगे, उससे प्रेम करने और जो बात बुरी लगे, उससे घृणा करने की जो क्षमता हममें मौजूद है, उसे हम छोड़ते नहीं। प्रेम करना और घृणा करना, ये दो अस्त्र हमारे पास हैं; क्योंकि जो लोग घृणा करना जानते हैं, वही यह भी जानते हैं कि प्रेम किस प्रकार किया जाता है। हम इस क्षमता को अपने में कायम रखते हैं और यदि केवल इस क्षमता से ही प्रत्येक पशु-समाज में भी नैतिक भावनाओं

का विकास कायम रहता है, तो फिर यह मानव-जाति के लिए और भी पर्याप्त होगा ।

हम सिर्फ एक बात चाहते हैं । वर्त्तमान समाज में इन दो भावनाओं के विकास में—प्रेम-भाव तथा घृणा-भाव में—जो सब वस्तुएं बाधा पहुंचाती हैं, उन्हें अलग कर दिया जाय; उन सब वस्तुओं को छांटकर दूर कर दिया जाय, जो हमारी न्याय-बुद्धि को विकृत कर देती हैं—अर्थात् राज्य, धर्माचार्य, न्यायाधीश, पुरोहित, शासक और शोषक ।

आज जब हम किसी जैक नामक हत्यारे को एक-एक करके गरीब और दुखिनी स्त्रियों की हत्या करते देखते हैं तो सबसे पहले हममें घृणा की भावना उत्पन्न होती है । यदि हमें वह उस दिन मिल गया होता, जिस दिन उसने उस स्त्री की, जिससे उसने सराय में रहने और खाने-पीने का खर्च मांगा था, हत्या की थी, तो हम उसके (जैक के) सिर में गोली मार देते, और इस बात पर बिल्कुल विचार नहीं करते कि उसे गोली मारने की अपेक्षा उस सराय के मालिक को गोली मारना कहीं अच्छा होता ।

किन्तु जब हम उसकी कलंक-कथाओं की याद करते हैं, जिसके कारण उसकी यह दुर्गति हुई है; जब हम उस अन्धकार के विषय में सोचते हैं, जिसमें उसे विचरण करना पड़ता है; जब हम उन चित्रों के विषय में विचार करते हैं, अथवा उन अश्लील पुस्तकों के बारे में, जिनके कारण उसके मन में बार-बार बुरे भाव उदित हुए हैं और उन विचारों का खयाल करते हैं, जो मूर्खतापूर्ण पुस्तकों से उसे प्राप्त हुए हैं, तो हमारी भावना कुछ और ही हो जाती है । और किसी दिन जब हम यह सुनते हैं कि जैक का मुकदमा किसी ऐसे जज के यहां हो रहा है, जिसने इतनी अधिक संख्या में निष्ठुरतापूर्वक स्त्री, पुरुष और बच्चों की हत्याएं की हैं, जितनी हत्याएं जैक-जैसे और कितने ही लोगों ने मिलकर भी न की होंगी—यदि हम उसे इस प्रकार के किसी पागल के हाथों में देखते हैं, उस समय जैक के प्रति हमारी सारी घृणा काफूर हो जाती है । उस समय हमारी यह घृणा भीरु और पाखंडी समाज तथा उसके माने हुए प्रतिनिधियों के प्रति घृणा में परिवर्तित हो जाती है । कानून के

नाम पर जो बहुसंख्यक कलंकजनक कार्य किये जाते हैं, उनके सामने जैक के कुकृत्य नगण्य प्रतीत होते हैं। इन कानून-जनित कलंकों से ही हम घृणा करते हैं।

वर्त्तमान समय में हमारी भावनाएं बराबर विभाजित-विच्छिन्न बनी रहती हैं। हम यह अनुभव करते हैं कि हम न्यूनाधिक ज्ञात या अज्ञात रूप से इस समाज के प्रोत्साहक हैं। हम घृणा करने का साहस नहीं करते। क्या हम प्रेम करने का साहस करते हैं? शोषण और दासता पर जो समाज अवस्थित होता है, उसमें मानवीय प्रकृति का अधःपतन होता है।

किन्तु दासता के लुप्त हो जाने पर हम अपने अधिकारों को पुनः प्राप्त करेंगे। हम अपने अन्दर इतनी शक्ति अनुभव करेंगे, जिससे हम जटिल अवस्थाओं में भी घृणा और प्रेम कर सकें।

अपने दैनिक जीवन में हम सहानुभूति या विद्वेष की अनुभूति को स्वतन्त्र रूप में प्रकट करते हैं, और प्रत्येक क्षण हम ऐसा करते रहते हैं। हम लोग नैतिक शक्ति से प्रेम करते हैं तथा नैतिक दुर्बलता और कायरता से घृणा करते हैं। प्रत्येक क्षण में हमारे शब्द, हमारी मुखाकृति और हमारी मुस्कराहट हमारे उस आनन्द को प्रकट करती है, जो आनन्द हमें मानव-जाति के लिए हितकर कार्यों को––जिन कार्यों को हम अच्छा समझते हैं––देखकर होता है। प्रत्येक क्षण हमारी मुखाकृति और हमारे शब्द हमारी उस घृणा को प्रकट करते हैं, जो घृणा हम भीरुता, ठगविद्या, षड्यन्त्र और नैतिक निर्बलता के प्रति प्रकट करते हैं। हम उस समय भी अपनी विरक्ति प्रकट करते हैं, जब दुनियबी शिक्षा के प्रभाव में आकर हम अपनी घृणा को उन मिथ्या रूपों के अन्दर छिपाने की चेष्टा करते हैं, जो मिथ्या रूप हम लोगों के बीच समानता का सम्बन्ध स्थापित होते ही लुप्त हो जायंगे।

अच्छे और बुरे की भावना को एक निश्चित धरातल पर कायम रखने और एक को दूसरे से परिचित रखने के लिए इतना ही काफी है। यह भावना उस समय और भी अधिक प्रभावशाली हो जायगी, जब समाज में जज या पुरोहित नहीं रह जायंगे, जब नैतिक सिद्धान्तों की बाध्यता नष्ट हो जायगी

और जब वे समान स्थिति के मनुष्यों के बीच केवल पारस्परिक सम्बन्ध के रूप में समझे जायंगे।

इसके सिवा जितना ही अधिक यह सम्बन्ध स्थापित होगा, उतनी ही उच्चतर नैतिक भावना समाज के अन्दर उदित होगी। इसी भावना का हम विश्लेषण करने जा रहे हैं।

अबतक हमने जो विश्लेषण किया है, उसमें सिर्फ समानता के सरल सिद्धान्त बताये गए हैं। हमने विद्रोह किया है और दूसरों को भी उन लोगों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए आमन्त्रित किया है, जिन्होंने अपना यह अधिकार मान रखा है कि वे अपने साथ जैसा व्यवहार किया जाना पसन्द करते हैं, वैसा व्यवहार दूसरों के साथ नहीं करें। हमने उन लोगों के विरुद्ध भी विद्रोह किया है, जो स्वयं तो ठगा जाना, शोषित किया जाना, दूषित किया जाना या बुरा व्यवहार किया जाना नहीं चाहते; किन्तु दूसरों के साथ ऐसा ही व्यवहार करते हैं। हमने कहा है कि मिथ्या-भाषण और पाशविकता घृणाजनक हैं; किन्तु ये चीजें घृणोत्पादक इसलिए नहीं हैं कि वे स्मृतियों के विरुद्ध हैं, बल्कि इसलिए कि इस प्रकार का आचरण ऐसे प्रत्येक व्यक्ति के मन में समानता के विरुद्ध विद्रोह की भावना उत्पन्न करता है, जिसके लिए समानता एक निरर्थक शब्दमात्र नहीं है। और सबसे बढ़कर यह उन लोगों के मन में विद्रोह की भावना उत्पन्न करता है, जो विचार करने और कार्य करने में सच्चे अराजकवादी हैं।

यदि ये सरल, स्वाभाविक और स्पष्ट सिद्धांत जीवन में काम में लाये जायं तो इसका परिणाम होगा एक उच्च नीतिज्ञान। इस नीतिज्ञान में उन सब बातों का समावेश हो जायगा, जिनकी शिक्षा बहुत पुराने जमाने से हमें नीतिनिष्ठों ने दी है।

समानता के सिद्धांत में नीतिनिष्ठों की शिक्षाओं का सार है, किन्तु इसके सिवा इसमें और कुछ भी है, और यह और कुछ, व्यक्ति के प्रति सम्मान है। अपनी समानता सम्बन्धी नीति-विज्ञान की या अराजकता की घोषणा करके हम उस अधिकार को मानने से इन्कार करते हैं, जिसका नीति-

निष्ठों ने बराबर दावा किया है। वह अधिकार है किसी आदर्श के नाम पर व्यक्ति को अंगहीन करना। हम स्वयं अपने लिए या किसी दूसरे के लिए इस अधिकार को बिल्कुल नहीं मानते।

हम व्यक्ति की पूर्ण स्वाधीनता को मानते हैं। हम उसके लिए जीवन की प्रचुरता तथा उसकी समस्त प्रतिभाओं का स्वतन्त्र विकास चाहते हैं। हम उसके ऊपर लादना कुछ भी नहीं चाहते। इस प्रकार हम उस सिद्धांत पर पहुंचते हैं, जिस सिद्धांत को फोरिये ने धार्मिक नीतिज्ञान के विरोध में रखते हुए कहा था--"मनुष्य को बिल्कुल स्वतंत्र छोड़ दो। उसे अंगहीन मत बनाओ, क्योंकि धर्म उनको बहुत-कुछ अपंग--जरूरत से ज्यादा अपंग--बना चुका है। उनके मनोद्वेगों से भी मत डरो। स्वतंत्र समाज में ये खतरनाक नहीं होते।"

यदि आप स्वयं अपनी स्वाधीनता का परित्याग न करें, यदि आप स्वयं अपने आपको दूसरों द्वारा गुलाम न बनने दें और यदि आप किसी व्यक्ति के प्रचण्ड और समाज-विरोधी मनोद्वेग का समान रूप में अपने प्रचण्ड--समाज के लिए उपयोगी--जोश द्वारा विरोध करें तो आपके लिए स्वतंत्रता से डरने की कोई बात नहीं रह जायगी।

हम किसी भी आदर्श के नाम पर व्यक्ति को अंगहीन करने की भावना का परित्याग करते हैं, हम अपने लिए सिर्फ इतना ही सुरक्षित रखना चाहते हैं कि हमें जो-कुछ अच्छा या बुरा मालूम हो, उसके प्रति हम स्पष्टरूप से अपनी सहानुभूति और विरक्ति प्रकट करें। एक मनुष्य अपने मित्रों को धोखा देता है। उसकी प्रवृत्ति ही ऐसी है, ऐसा करना उसका स्वभाव है। अच्छा, तो यह हमारा स्वभाव है--हमारी यह प्रवृत्ति है--कि हम झूठ बोलनेवालों से घृणा करें। चूंकि यह हमारा स्वभाव है, इसलिए हमें स्पष्टरूप में ऐसा करना चाहिए। हम दौड़कर उसे न छाती से लगावें और न उससे हाथ मिलावें, जैसाकि आजकल कभी-कभी किया जाता है। हमें अपने सक्रिय मनोद्वेग के द्वारा उसके मनोद्वेग का प्रचण्ड रूप में विरोध करना चाहिए।

हमें सिर्फ इतना ही करने का अधिकार है। समाज में समानता के

सिद्धांत को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए हमें केवल इसी कर्त्तव्य का पालन करना है। आचरण द्वारा समानता के सिद्धांतों को इसी प्रकार चरितार्थ किया जा सकता है।

किन्तु उस हत्यारे के सम्बन्ध में, उस मनुष्य के सम्बन्ध में, जो बच्चों पर बलात्कार करता है, क्या कहा जाय? इस प्रकार के हत्यारे अब बहुत ही कम पाये जाते हैं, जो केवल रक्त-पिपासा के ही कारण हत्या करते हों। वे ऐसे पागल मनुष्य हैं जिनका इलाज होना चाहिए, अथवा उनका परित्याग कर देना चाहिए।

लम्पट के सम्बन्ध में हमें पहले यह देखना है कि समाज यदि हमारे बच्चों की भावनाओं को विकृत न करे तो हमारे लिए बदमाशों से डरने का कोई कारण नहीं रह जायगा।

किन्तु यह समझ रखना चाहिए कि ये सब बातें पूर्णरूप में तबतक प्रयुक्त नहीं हो सकतीं, जबतक कि नैतिक अधःपतन के मूल कारणों—पूंजीवाद, धर्म, न्याय और सरकार—का अन्त न हो जाय। पर इसके एक बहुत बड़े अंश को आज से ही कार्य-रूप में परिणत किया जा सकता है। यह पहले से कार्यान्वित हो भी रहा है।

यदि समाज सिर्फ समानता के इसी सिद्धांत को जान जाय, यदि प्रत्येक व्यक्ति एक बनिये के समान हिसाबी दृष्टि रखे, जो तमाम दिन इस बात की सावधानी रखता है कि उसे जितने पैसे मिलते हैं, उससे अधिक की वस्तु वह किसीको न दे, तो समाज की इससे मृत्यु हो जायगी। तब तो समानता का सिद्धांत तक हमारे पारस्परिक सम्बन्ध से लुप्त हो जायगा, क्योंकि यदि समानता को कायम रखना है तो केवल न्याय की अपेक्षा कुछ महत्तर, अधिक मनोहर, अधिक शक्तिशाली वस्तु का जीवन में सतत स्थान होना चाहिए, और वह न्याय से बृहत्तर वस्तु यह है।

अबतक मानव समाज में ऐसे महामना व्यक्तियों का अभाव नहीं रहा है, जो करुणा, बुद्धिमत्ता और सद्भावना के भाव से ओतप्रोत हैं; जो अपनी अनुभूति, प्रतिभा और सक्रिय शक्ति का प्रयोग मानव-जाति की सेवा में

करते हैं तथा उसके बदले में कुछ नहीं चाहते ।

मस्तिष्क, अनुभूति या सद्भावना की उर्वरता अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती है । यह सत्य के उन जिज्ञासुओं में पाई जाती है, जो अन्य आनन्दों का परित्याग करके जिस बात को वे सत्य और यथार्थ समझते हैं, उसके सन्धान में अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं—भले ही वह सत्य उनके आसपास रहनेवाले अज्ञानी लोगों के कथन के विपरीत क्यों न हो ! यह उर्वरता उस आविष्कर्त्ता में पाई जाती है, जो अपने विषय का, जिसे वह दुनिया में युगान्तरकारी समझता है, अनुगमन करते हुए अपने दैनिक जीवन में भोजन तक करना भूल जाता है । कदाचित ही वह भोजन का स्पर्श करता है और उसके प्रति अनुरक्त कोई स्त्री उसे अपने हाथ से बच्चे की तरह भोजन कराती है । इसका एक रूप उस व्याकुल क्रांतिकारी में पाया जाता है, जो संसार के उद्धार के लिए दुःख एवं यातना सहन करते हुए कार्य करता है; जिसे कला, विज्ञान—यहां तक कि पारिवारिक जीवन के आनन्द तक—कटु मालूम होते हैं, जबतक कि सब लोग उनका उपयोग न कर सकें । यह उस युवक में पाई जाती है, जो विदेशियों के आक्रमण के अत्याचारों को सुनकर और देश-प्रेम के वीरतापूर्ण आख्यानों को ज्यों-का-त्यों समझकर किसी स्वयंसेवक दल में भरती हो जाता है और भूख तथा सर्दी सहन करते हुए साहसपूर्वक आगे बढ़ता है, जबतक कि वह गोलियों का शिकार नहीं बनता । यह पेरिस की गलियों में घूमनेवाले उस अनाथ बालक में पाई जाती है, जो अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और द्वेष एवं सहानुभूतिपूर्वक अपन छोटे भाई के साथ दौड़कर दुर्ग-प्रा ीर के पास जाता है और वहां गोलों की वर्षा के बीच स्थिर भाव से खड़ा यह गुनगुनाते हुए मर जाता है—"साम्य-वादी समाज चिरजीवी हो !" यह उस मनुष्य में पाई जाती है, जो किसी अन्याय को देखकर विद्रोही हो उठता है । इसका परिणाम क्या होगा, इसका विचार किये बिना ही, और जब सब लोग मस्तक झुका देते हैं, वह दृढ़ भाव से खड़ा होकर अन्याय पर पड़ा हुआ पर्दा हटा देता है और शोषण-कर्त्ता का, कारखाने के तुच्छ स्वेच्छाचारी का, या साम्राज्य के बड़े अत्या-

चारी शासक का नग्न रूप प्रकट कर देता है। अन्ततः यह उन असंख्य अनुरागपूर्ण कार्यों में पाई जाती है, जो चमत्कारपूर्ण न होने के कारण अज्ञात रहते हैं और जिनका उचित मूल्य कभी भी नहीं कूता जाता। यदि हम लोग आंख खोलकर देखें कि मानव-जीवन के मूल में क्या है तो हमें वह मस्तिष्क, अनुभूति या सद्भावना की उर्वरता निरन्तर दीख पड़ेगी—खासकर स्त्रियों में। शोषण तथा अत्याचार के होते हुए भी किसी-न-किसी रूप में यह अवश्य पाई जाती है।

इस प्रकार के स्त्री-पुरुष ही, जिनमें कुछ तो अप्रसिद्ध रूप में और कुछ बृहत्तर क्षेत्र में, मानव-जाति की उन्नति की सृष्टि करते हैं। मानव-जाति भी इस बात से परिचित है। यही कारण है कि वह इस प्रकार के जीवन को श्रद्धा और पौराणिक कथाओं से आच्छादित कर देती है। मानव-जाति उन्हें अलंकृत करके कथा, कहानी, गीत और उपन्यास का विषय बना देती है। यह उनके साहस, साधुता, प्रेम और भक्ति आदि गुणों की पूजा करती है, जिनका हममें से अधिकांश लोगों में अभाव पाया जाता है। यह उनकी स्मृति को युवकों में संचारित कर देती है। मानव-जाति उन लोगों का भी स्मरण करती है, जिन्होंने अपने कुटुम्बियों और मित्रों की संकीर्ण परिधि में काम किया है और पारिवारिक रीति-नीति और परम्परा में उनकी स्मृति के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करती है।

इस प्रकार के स्त्री-पुरुष ही सच्चे नीतिज्ञान की सृष्टि करते हैं। यही वह नीतिज्ञान है, जो दरअसल नीतिज्ञान के नाम को चरितार्थ करता है। और सब जितने हैं, वे सब समानता के सम्बन्ध-मात्र हैं। उनके साहस और उनकी अनुरक्ति के बिना मानव-समाज तुच्छ हिसाबीपन की कीचड़ में फँसकर हतबुद्धि बना रहता है। इस प्रकार के स्त्री-पुरुष ही भविष्य के नीतिज्ञान की सृष्टि करते हैं। यह नीतिज्ञान उस समय आयगा, जब हमारे बच्चे हिसाबी बनना छोड़ देंगे और इस भाव को धारण कर लेंगे कि शक्ति, साहस और प्रेम का सर्वोत्तम उपयोग यही है कि जहां इस शक्ति की सबसे अधिक आवश्यकता समझी जाय, वहीं इसका प्रयोग किया जाय।

प्रत्येक युग में इस प्रकार का साहस और भक्ति पाई जाती है। सामाजिक पशुओं में भी यह गुण दीख पड़ता है। अधःपतन के युग में भी मनुष्यों में यह गुण पाया जाता है।

धर्मों ने बराबर इसपर अधिकार जमाने की तथा अपने लाभ के लिए इसके सिक्के ढालकर चलाने की चेष्टा की है। धर्म यदि अब भी जीवित हैं तो इसका कारण यह है कि उन्होंने बराबर भक्ति और साहस के नाम पर––अज्ञान के अलावा––अपील की है। क्रांतिकारी भी इन्हीं के नाम पर अपील करते हैं।

कर्त्तव्य की नैतिक भावना के, जिसे प्रत्येक मनुष्य ने अपने जीवन में अनुभूत किया है और जिसकी प्रत्येक प्रकार के रहस्यवाद द्वारा व्याख्या करने की काशिश की गई ह, सम्बन्ध में गुयाऊ नामक लेखक कहता है—"कर्त्तव्य की नैतिक भावना का स्रोत है जीवन का उभार। जब जीवन में उभार आता है तो वह मनुष्य को मजबूर करता है कि वह अपनी शक्ति का प्रयोग करे। इसके साथ ही वह शक्ति की अनुभूति भी है।"

जब शक्तियां संचित हो जाती हैं तो वे अपने सामने उपस्थित होनेवाली बाधाओं पर दबाव डालती हैं। कार्य करने की क्षमता का अर्थ है कर्त्तव्य। जिसमें शक्ति है, वह काम करने के लिए मजबूर है। नैतिक बाध्यता का, जिसके सम्बन्ध में अत्यधिक कहा और लिखा गया है, कुछ शब्दों में अभिप्राय है––"यदि तुम जिन्दगी कायम रखना चाहते हो तो उसका विस्तार करो। यानी जीवन की शर्त्त ही यह है कि उसका विस्तार किया जाय। पौधा अपने को पुष्पित होने से रोक नहीं सकता। कभी-कभी फल लगने का अर्थ होता है मृत्यु को प्राप्त होना। फिर भी रस तो ऊपर चढ़ता ही रहता है।" अराजकवादी दार्शनिक युवक इस प्रकार विचार करता है।

जो बात पौधों के बारे में होती है, वही आदमियों के बारे में भी है, जब कि वह शक्ति और स्फूर्ति से परिपूर्ण रहता है। शक्ति उसमें इकट्ठी होने लगती है। फिर वह अपने जीवन को विस्तीर्ण करता है। वह बिना किसी हिसाब-किताब के दान करता है, क्योंकि इसके बिना वह जीवित नहीं रह

सकता। जिस तरह फूल खिलने पर मुरझाकर सूख जाता है, उसी प्रकार यदि दान करते हुए उसके भी जीवन का अन्त हो जाय तो कुछ भी हर्ज नहीं। यदि जीवन में रस है, तो वह ऊपर चढ़ेगा ही।

शक्तिशाली बनो। मानसिक आवेग तथा बौद्धिक शक्ति के उच्छ्वास से अपने को परिप्लावित कर दो, तभी तुम अपनी बुद्धि, अपने प्रेम और अपनी क्रियाशक्ति का दूसरों में प्रचार कर सकोगे। सब नैतिक शिक्षाओं का सार यही है।

सच्चे नीतिनिष्ठ पुरुष की जिस बात की मनुष्य-समाज प्रशंसा करता है, वह है उसकी शक्ति—उसके जीवन का बाहुल्य, जो उसे इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वह अपनी बुद्धि, अपनी अनुभूति, अपनी क्रियाशक्ति दूसरे को प्रदान करे और बदले में कुछ भी न चाहे।

प्रबल चिन्ताशील व्यक्ति, जो बौद्धिक जीवन से भरपूर बना रहता है, स्वभावतः अपने भावों को बांटना चाहता है। विचार करने में क्या आनन्द मिल सकता है, जबतक कि वे विचार दूसरों तक पहुंचाये न जा सकें? जो लोग मानसिक दृष्टि से दरिद्र होते हैं, वे ही अत्यन्त कष्ट से ढूंढ़ निकाले हुए भावों को यत्नपूर्वक छिपाते हैं, ताकि वे उसपर अपने नाम की छाप लगा सकें; किन्तु परिपक्व बुद्धिवाले मनुष्य अपने भावों को लेकर उच्छ्-वसित हो उठते हैं, और वे उन्हें दोनों हाथों से वितरण करते हैं। यदि वे अपने विचारों का भागी दूसरों को नहीं बना सकते और यदि वे उन्हें चारों दिशाओं में विकीर्ण नहीं कर सकते तो उन्हें अपना जीवन कष्टप्रद प्रतीत होता है, क्योंकि इस दान में ही उनका जीवन है।

यही बात अनुभूति के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। हम अपने लिए पर्याप्त नहीं हैं—"हमारे पास जितने आँसू हैं, वे हमारे निजी कष्टों से कहीं अधिक हैं (यानी वे दूसरों के कष्टों के लिए भी बहाये जाने चाहिए), और हमारे जीवन के लिए जितना आनन्द उचित होना चाहिए, उसकी अपेक्षा हममें कहीं अधिक आनन्द-उपभोग की क्षमता है।" गुयाऊ ने इन दो पंक्तियों में हमारे नीतिशास्त्र का सार निचोड़कर रख दिया है। एकाकी

मनुष्य दुखी और अशान्त बना रहता है, क्योंकि वह अपने विचारों और अनुभूतियों में दूसरों को शामिल नहीं कर सकता। जब हम किसी महान् आनन्द का अनुभव करते हैं तो हमारी यह इच्छा होती है कि हम दूसरों को यह बतावें कि हम जिन्दा हैं, हम अनुभव करते हैं, हम प्रेम करते हैं, हम जीवन धारण करते हैं, हम जीने के लिए संग्राम करते हैं, हम युद्ध करते हैं।

इसके साथ ही हम इस बात की भी आवश्यकता अनुभव करते हैं कि हम अपनी इच्छा-शक्ति का—अपनी सक्रिय शक्ति का—प्रयोग करें। बहुसंख्यक मनुष्यों के लिए कार्य करना एक आवश्यक वस्तु हो जाता है। यह आवश्यकता इतनी बड़ी होती है कि जब असंगत दशाओं के कारण स्त्री-पुरुष किसी लाभदायक कार्य से विच्छिन्न हो जाते हैं तो वे कोई ऊटपटांग कार्य या व्यर्थ के दायित्व ढूंढ़ निकालते ह, जिससे अपनी सक्रिय शक्ति के लिए वे क्षेत्र प्रस्तुत कर सकें। वे किसी सिद्धांत, धर्म या सामाजिक कर्त्तव्य का आविष्कार करते हैं, जिससे वे अपने मन को यह विश्वास दिला सकें कि वे कोई लाभदायक कार्य कर रहे हैं। जब वे नाचते हैं तो परोपकार के लिए। जब वे कीमती पोशाक पहनकर अपनी बर्बादी करते हैं तो इसलिए कि वे अपने सम्भ्रान्त कुल की स्थिति को कायम रख सकें! जब वे कुछ नहीं भी करते हैं तो सिर्फ सिद्धांत के लिए!

गुयाऊ ने लिखा है—"अपने साथियों को सहारा देना हमारे लिए आवश्यक है। मानव-समाज द्वारा जो गाड़ी बड़ी कठिनता से खींची जा रही है, उसमें हम भी कन्धा लगा दें; हर हालत में हम उसके इर्द-गिर्द मंडराते रहें।" सहारा पहुंचाने की यह आवश्यकता इतनी बड़ी होती है कि यह सब सामाजिक प्राणियों में पाई जाती है, चाहे उनकी स्थिति कितनी ही निम्न क्यों न हो। प्रतिदिन राजनीति में जो विशाल शक्ति का अपव्यय होता है, वह इसके सिवा और क्या है कि मानवता की गाड़ी को सहारा दिया जाय, या कम-से-कम उसके चारों ओर घूमा जाय।

'इच्छा-शक्ति की उर्वरता' कार्य करने की पिपासा जब अनुभूति की

दरिद्रता से युक्त होती है और बुद्धि सृष्टि करने में अक्षम होती है तो उससे नेपोलियन या बिस्मार्क जैसे व्यक्ति उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के पाण्डित्याभिमानी व्यक्ति संसार को जबर्दस्ती पीछे की ओर घसीटकर ले जाने की चेष्टा करते हैं। दूसरी ओर यदि मानसिक उर्वरता विकसित अनुभूति से शून्य होती है तो उसके फलस्वरूप ऐसे अहंकारी साहित्यिक और वैज्ञानिक व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, जो केवल ज्ञान की प्रगति में बाधा पहुंचाते हैं। अन्त में यह जान रखना चाहिए कि यदि अनुभूति को पथ-प्रदर्शित करने के लिए बुद्धि का अभाव होगा तो इससे उस स्त्री-जैसे व्यक्ति उत्पन्न होंगे, जो किसी नरपशु के लिए, जिसे वह तन-मन-प्राण से प्रेम करती है, अपना सब-कुछ न्योछावर कर देने को तैयार रहती है।

यदि जीवन को वस्तुतः सफल बनाना है तो बुद्धि, अनुभूति और इच्छा-शक्ति में सामंजस्य स्थापित करना चाहिए। जीवन की प्रत्येक दिशा की यह उर्वरता ही जीवन है और इसीका नाम जिन्दगी है। इस जीवन के एक क्षण के लिए, जिन्होंने एक बार भी इसकी झांकी प्राप्त कर ली है, वे अपने घास-फूस की तरह बढ़नेवाले कितने ही वर्ष प्रदान कर देते हैं। इस प्रचुर जीवन के बिना मनुष्य समय से पहले ही वृद्ध हो जाता है। वह एक नपुंसक प्राणी बन जाता है। वह उस पौधे के समान है, जो फूलने के पहले ही सूख जाता है।

"इस जीवन को, जिसमें जिन्दगी है ही नहीं और जो सड़ी-गली चीजों से परिपूर्ण है, धता बताओ।" एक युवक बोल उठता है—वह सच्चा युवक, जिसमें जीवन-रस उच्छ्वसित हो रहा है, जो जीवित रहना चाहता है और जो अपने चारों ओर जीवन को वितरण करना चाहता है। प्रत्येक अवसर पर जब समाज का पतन होता है तो इस प्रकार के युवकों के आक्रमण से प्राचीन आर्थिक, राजनैतिक और नैतिक स्वरूप छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, जिससे नवजीवन की उत्पत्ति के लिए स्थान हो। यदि इस संग्राम में कितन ही नवयुवक खेत रहें तो इसकी कोई चिन्ता नहीं। फिर भी जीवन-रस का तो संचार होता ही रहता है, क्योंकि यौवन के अस्तित्व का अर्थ है पुष्पित

होना, चाहे परिणाम कुछ भी क्यों न हो। नवयुवक इस बात की फिक्र नहीं करता कि उसके कार्यों का नतीजा क्या होगा, और चाहे जो भी परिणाम हो, नवयुवक उसके लिए खेद नहीं करता।

मानव-जीवन के वीरत्वपूर्ण अवसरों की बात जाने दीजिये, यदि हम मनुष्य के दैनिक जीवन पर ही विचार करें तो क्या अपने आदर्श से विच्छिन्न होकर रहना भी कोई जिन्दगी है ?

इन दिनों अक्सर यह कहा जाता है कि मनुष्य आदर्श के नाम पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं। इसका कारण समझना कठिन नहीं है। इस 'आदर्श' शब्द का सरल-हृदय मनुष्यों को धोखा देने के लिए इतना अधिक दुरुपयोग हुआ है कि इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होनी अवश्यम्भावी है और साथ ही लाभप्रद भी है। हम भी यह चाहते हैं कि 'आदर्श' शब्द के, जो इतना अधिक कलंकित और दूषित हो चुका है, स्थान में कोई नया शब्द रखा जाय, जो नवीन भावों के अनुकूल हो।

किन्तु शब्द चाहे कुछ भी क्यों न हो, असल बात तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य का उसका अपना आदर्श होता है। बिस्मार्क का भी अपना निजी आदर्श था––चाहे वह आदर्श कितना ही विचित्र क्यों न था––यानी तलवार के बल पर शासन। यहां तक कि प्रत्येक असभ्य व्यक्ति का भी अपना आदर्श होता है, चाहे वह आदर्श कितना ही अधम क्यों न हो।

किन्तु इन लोगों के सिवा ऐसे मनुष्य भी हैं, जिन्होंने उच्चतर आदर्श की कल्पना की है। पशुवत् जीवन से वे सन्तुष्ट नहीं हो सकते। दासता, मिथ्याभाषण, विश्वासघात, षड्यन्त्र, मानवीय सम्बन्ध में असमानता–– इन सब बातों से उन्हें घृणा होती है। वे स्वयं दासवत्, मिथ्याभाषी, षड्यन्त्रकारी और दूसरे पर प्रभुत्व करनेवाले क्योंकर हो सकते हैं ? यदि मनुष्यों में परस्पर का सम्बन्ध अच्छा हो तो जीवन कितना सुन्दर बन सकता है, इसका आभास उन्हें मिल जाता है। वे अपनेमें इस बात की क्षमता का अनुभव करते हैं कि वे उन लोगों के साथ अच्छा सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हो सकते हैं, जिनके साथ उनका सम्पर्क हो। उनके मन में

एक ऐसी भावना का जन्म होता है, जिसे हम आदर्श कहते हैं।

यह आदर्श कहां से आता है ? एक तो वंशानुक्रम से और दूसरे जीवन की धारणाओं से। किस प्रकार इसका गठन होता है ? हम लोग यह नहीं जानते। अधिक-से-अधिक हम इसकी कहानी न्यूनाधिक सत्य रूप में अपने आत्म-चरित में वर्णन कर सकते हैं। पर यह एक यथार्थ तथ्य है––परिवर्त्तनशील और प्रगतिशील है, बाह्य प्रभावों से प्रभावित होता है, किन्तु बराबर सजीव बना रहता है। यह आदर्श विशेषतः वह अचेतन अनुभूति है, जिससे अधिक-से-अधिक परिमाण में प्राणशक्ति और आनन्द प्राप्त हो सकता है।

जीवन सबल, उर्वर और संवेदनशील तभी हो सकता है, जब आदर्श की अनुभूति के अनुसार काम किया जाय। इस अनुभूति के विरुद्ध कार्य कीजिये और आपको अपना जीवन झुका हुआ––अवनत––मालूम पड़ेगा। उसकी सजीवता नष्ट हो जायगी। अपने आदर्श के प्रति यदि आप सच्चे नहीं बने रहेंगे तो अन्त में आपकी इच्छा-शक्ति और क्रियात्मक शक्ति को लकवा मार जायगा। फिर आप शीघ्र अपनी जीवन-शक्ति को प्राप्त नहीं कर सकेंगे और आप खो बैठेंगे अपने निर्णय की उस स्वच्छन्दता को, जिसे आप पहले जानते थे। आपका जीवन टूट जायगा––भग्न हो जायगा।

यदि आप मनुष्य को स्नायु और मस्तिष्क-सम्बन्धी केन्द्रों का, जो स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं, सम्मिश्रण समझ लें तो फिर इन बातों में कोई रहस्य नहीं रह जायगा। आपके अन्दर जो विभिन्न अनुभूतियां संग्राम कर रही हैं, उनके बीच दुविधा में पड़े रहिये; फिर आप देखेंगे कि कितनी जल्दी आपके अवयवों का सामंजस्य नष्ट हो जाता है। इच्छा-शक्ति के बिना आप रोगी बन जायंगे। आपके जीवन की प्रगाढ़ता कम हो जायगी। फिर आप समझौते करने की फिक्र करेंगे ; पर क्या ऐसे समझौतों से जिन्दगी वापस आ सकती है ? फिर आप कभी पूर्ण, सुदृढ़, सबल व्यक्ति नहीं बन सकेंगे, जैसे आप उस समय थे, जबकि आपके कार्य मस्तिष्क की आदर्श भावनाओं के अनुकूल होते थे।

ऐसे युग भी आते हैं, जब नैतिक भावनाओं में पूर्णतया परिवर्तन हो जाता है। मनुष्य यह अनुभव करता है कि जिस बात को उसने नीतियुक्त समझा था, वह घोर नीति-भ्रष्टता है। उदाहरणार्थ, कोई प्रथा, जो परम्परा से नीतिमूलक समझी जाती रही है, अब स्पष्टतया नीतिभ्रष्ट मालूम पड़ती है। दूसरे उदाहरणों में हम ऐसी नैतिक पद्धति पाते हैं, जो किसी श्रेणी-विशे के स्वार्थ के लिए बनाई गई हो। उस समय हम उन्हें अलग फेंक देते हैं और "नीतिमत्ता का अन्त कर डालो" यह आवाज उठाते हैं। उस समय नीति-विरुद्ध कार्य करना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है।

हमें ऐसे युगों का स्वागत करना चाहिए, क्योंकि ये युग समालोचना के युग हैं। वे इस बात के निर्भ्रान्ति लक्षण हैं कि समाज में चिन्तन-शक्ति कार्य कर रही है; उच्चतर नीतिनिष्ठा काम करने लग गई है। यह नीतिमत्ता क्या होगी, उसकी हमने सूत्र-रूप में व्याख्या की है, और इसके लिए हमने मनुष्य और पशु-जीवन के अध्ययन को अपना आधार माना है।

हमने नीतिज्ञान के उस रूप को देखा है, जो इस समय भी जनता और विचारशील लोगों के भावों में आकार धारण कर रहा है। इस प्रकार के नीति-ज्ञान में आदेश जारी नहीं किये जायंगे। यह सदा के लिए किसी अमूर्त्त भावना के अनुसार व्यक्तियों को सांचे में ढालना अस्वीकार कर देगा, क्योंकि यह उन्हें धर्म, कानून या सरकार द्वारा अंगहीन नहीं बनाना चाहता। यह व्यक्ति के लिए पूर्ण और सर्वांग-सम्पन्न स्वाधीनता देगा। यह तथ्यों का एक सरल विवरण—एक विज्ञान होगा। और यह विज्ञान मनुष्य से कहेगा—"यदि तुम अपनी आन्तरिक शक्ति से परिचित नहीं हो, यदि तुम्हारी शक्तियां सिर्फ इसी बात के लिए पर्याप्त हैं कि तुम अपने निस्तेज और अपरिवर्त्तनशील जीवन को बिना किसी गहरी छाप के, बिना गम्भीर आनन्द और साथ ही बिना किसी गंभीर शोक के, कायम रख सको, तो न्यायानुकूल समानता के सरल सिद्धांतों पर अपनेको संलग्न रखो। समानता के सम्बन्ध से तुमको अपनी दुर्बल शक्तियों के अनुसार यथासंभव अधिक-से-अधिक आनन्द मिलेगा।

"किन्तु, अगर तुम्हें अपने भीतर जवानी की ताकत महसूस होती है, अगर तुम जीते रहना चाहते हो, अगर तुम निर्दोष, सर्वांगपूर्ण और उभरती हुई जिंदगी का आनन्द लेना चाहते हो—यानी अगर तुम उन सर्वोच्च आनन्दों को जानना चाहते हो, जिनकी कोई भी जीवित प्राणी आकांक्षा कर सकता हैं—तो मजबूत बनो, महान् बनो और जो कुछ भी तुम करो, उसमें दृढ़ता से काम लो।

"अपने चारों तरफ जीवन के बीज बोओ। खबरदार ! अगर तुम धोखा दोगे, झूठ बोलोगे, षड्यंत्र रचोगे, चकमा दोगे, तो तुम उससे खुद अपने-आपको पतित करोगे—अपने-आपको छोटा बनाओगे, पहले से अपनी कमजोरियां कबूल करोगे और तुम्हारी हालत जनानखाने के उस गुलाम की तरह होगी, जो हमेशा अपनेको अपने मालिक से छोटा समझता है। अगर तुम्हें यही बातें भाती हैं, तो इन्हींको करो; लेकिन उस हालत में लोग तुम्हें नाचीज, घृणास्पद और कमजोर समझेंगे, और तुम्हारे साथ वैसा ही बर्त्ताव करेंगे। तुम्हारी ताकत का कोई सबूत न होने के मानी यह होंगे कि जनता तुम्हें करुणा का पात्र समझेगी—केवल करुणा का पात्र, बस !

"जब तुम खुद अपने-आप अपनी शक्तियों को पंगु बनाते हो तो दुनिया को दोष मत दो। इसके खिलाफ अपनेको शक्तिशाली बनाओ और अगर तुम्हें कहीं कोई अन्याय दिखाई दे और तुम उसे अन्याय या अधर्म मानते हो—चाहे वह जीवन का कोई अन्याय हो, विज्ञान का कोई झूठ हो, या किसीपर किसीका किया हुआ जुल्म हो—तो तुम उस अन्याय, उस झूठ या उस जुल्म के खिलाफ उठकर बगावत करदो।

"संघर्ष करो, ताकि सारी दुनिया सुखी और खुशहाली से भरा-पूरा जीवन बिता सके। विश्वास रखो कि इस संघर्ष में तुम्हें वह आनन्द मिलेगा, जो और कोई बात तुम्हें नहीं दे सकती।"

नीतिशास्त्र आपको जो-कुछ बतला सकता है, वह सिर्फ इतना ही है। इसे मानना या न मानना आपकी इच्छा पर निर्भर है।

: ४ :

अराजकता : सिद्धान्त और आदर्श

ऐसे लोगों की संख्या अब भी काफी है जो यह खयाल करते हैं कि अराजकता भविष्य के संबंध में स्वप्नों का संग्रह-मात्र है, और उसका उद्देश्य वर्त्तमान सभ्यता का विध्वंस करना है, चाहे यह विध्वंस का प्रयत्न, बे-समझे-बूझे ही किया जा रहा हो। इस प्रकार के विचार जो लोग रखते हैं, उनके पक्षपातपूर्ण संस्कारों के आधार को स्पष्ट कर देने के लिए हमें बहुत छोटी-छोटी बातों पर विचार करना होगा। इनपर संक्षेप में विचार करना मुश्किल है।

कुछ समय से अराजकवादियों की चर्चा इतनी अधिक होने लगी है कि जनता के एक भाग ने आखिर हमारे सिद्धांतों का अध्ययन करना और उनकी विवेचना करना शुरू कर दिया है। कभी-कभी लोगों ने इसपर विचार करने का भी कष्ट उठाया है, और इस समय हमने कम-से-कम इस बात को तो लोगों से मंजूर करा लिया है कि अराजकवादियों का भी कोई आदर्श है, बल्कि लोग यहां तक कहने लगे हैं—"मनुष्य-समाज में सब देवता-ही-देवता थोड़े हैं। इसलिए अराजकवादियों का आदर्श समाज के देखे इतना अधिक ऊँचा और इतना अधिक सुन्दर है कि वह सर्वथा अव्यवहार्य है।"

किन्तु क्या मेरे लिए किसी दर्शनशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ कहना आडम्बरपूर्ण न होगा, जबकि हमारे समालोचकों के अनुसार हमारे आदर्श सुदूर भविष्य के स्वप्न-मात्र हैं? क्या अराजकता इस बात का दावा कर सकती है कि उसका कोई दर्शन है, जबकि यही स्वीकार नहीं किया जाता है कि साम्यवाद का भी कोई दर्शन है? इसीके संबंध में यथासंभव पूर्ण स्पष्टता के साथ उत्तर देने जा रहा हूँ। पहले मैं प्राकृतिक विज्ञान से कुछ मौलिक सिद्धांत लेकर शुरू करता हूँ, इस उद्देश्य से नहीं कि हम उनसे अपने सामाजिक भावों का निर्णय करें, बल्कि इस वजह से कि प्राकृतिक दृष्टांतों के द्वारा, हम अपने प्रश्नों पर आसानी के साथ प्रकाश डाल सकते हैं, क्योंकि उसके तथ्य गणित

इत्यादि विज्ञानों के द्वारा सत्य सिद्ध किये जा सकते हैं और उलझे हुए मानव समाज के दृष्टांतों द्वारा ऐसा करना बहुत कठिन है।

भौतिक विज्ञान के सम्बन्ध में इस समय हमें एक विशेष उल्लेखनीय बात यह दीख पड़ती है कि विश्व के तथ्यों के सम्बन्ध में और उनकी संपूर्ण भावनाओं में गम्भीर परिवर्त्तन हो रहा है।

एक समय ऐसा था, जब मनुष्य यह समझता था कि पृथिवी विश्व-ब्रह्मांड के मध्य में स्थित है। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्र हमारी इस पृथिवी के चारों ओर घूमते हैं। यह पृथिवी, जिसपर मनुष्य का वास है, मनुष्य के लिए सृष्टि का केन्द्र है। वह स्वयं—अपने ग्रहमंडल का सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने के कारण—अपनी सृष्टि का विशिष्ट जीव है। सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की सृष्टि उसीके लिए हुई है—ईश्वर का सारा ध्यान उसीकी ओर प्रवर्तित होता है, जो उसके छोटे-से-छोटे कार्यों पर भी दृष्टि रखता है, उसके लिए सूर्य की गति को रोक देता है और मनुष्य-जाति के अपराधों का दंड देने या पुण्यों का फल देने के लिए ग्रामों या नगरों पर वर्षा या वज्र गिराता है। सहस्रों वर्ष तक मनुष्य ने विश्व को इसी रूप में समझ रखा था। सोलहवीं शताब्दी में सभ्य मानव-जाति की समस्त भावनाओं में एक महान् परिवर्त्तन उत्पन्न हुआ, जबकि यह सिद्ध कर दिया गया कि पृथिवी विश्व-ब्रह्मांड का केन्द्र न होकर सौर-मंडल में बालू के एक कण के समान है,—अन्य ग्रहों की अपेक्षा यह बहुत छोटी है; और सूर्य यद्यपि हमारी इस क्षुद्र पृथिवी की अपेक्षा बहुत बड़ा है, फिर भी वह असंख्य नक्षत्रों में, जिन्हें हम आकाश में प्रकाशमान और आकाशगंगा में श्रेणीबद्ध देखते हैं, एक नक्षत्र-मात्र है। इस असीम विशालता के सामने मनुष्य कितना तुच्छ और उसका आडम्बर कितना उपहासजनक मालूम पड़ता है! उस युग के समस्त दर्शनशास्त्र तथा समस्त सामाजिक और धार्मिक भावनाओं पर सृष्टि-क्रम के इस परिवर्त्तन का प्रभाव पड़ा। प्राकृतिक विज्ञान, जिसकी वर्त्तमान उन्नति पर हम गर्व करते हैं, उस समय से ही शुरू होता है।

किन्तु इस समय समस्त विज्ञानों में उससे भी कहीं बढ़कर एक प्रगाढ़

परिवर्त्तन हो रहा है, जिसके परिणाम और भी दूरव्यापी होंगे, और अराजकता इस क्रम-विकास की अनेक अभिव्यक्तियों में से एक अभिव्यक्ति है ।

गत शताब्दी के ज्योतिष-शास्त्र की किसी रचना को ले लीजिये । आप उसमें हमारे इस क्षुद्र ग्रह––पृथिवी––को विश्व-ब्रह्मांड के केन्द्र में नहीं पायेंगे; किन्तु आपको पग-पग पर एक केन्द्रीय नक्षत्र––सूर्य––की कल्पना मिलेगी, जो अपने शक्तिशाली आकर्षण से हमारे नक्षत्र-जगत् पर शासन करता है ।

इस केन्द्रीय स्थान से एक शक्ति विकीर्ण होती है, जो ग्रहों की गति का परिचालन करती है और सौर-जगत् के सामंजस्य को अक्षुण्ण बनाये रखती है । केन्द्रीय राशि से उत्पन्न होने के कारण ये नक्षत्र मानो उससे मुकुलित हुए हों । उनकी उत्पत्ति इस राशि से हुई है, इस ज्योतिषमान नक्षत्र के कारण उनकी गतियों में सामंजस्य रहता है, उनकी कक्षाएं एक-दूसरे से नियमित दूरी पर रहती हैं, और उनमें जीवन रहता है, जो जीवन उन्हें अनुप्राणित और उनके बहिर्भाग को विभूषित करता है । जब किसी विक्षोभ के कारण उनकी गति में बाधा पड़ती है, और वे अपनी कक्षाओं से विचलित हो जाते हैं, उस समय यह केन्द्रीय ग्रह सौर मंडल में फिर से शृंखला उत्पन्न कर देता है । वह उसके अस्तित्व को निश्चित और चिरस्थायी बनाता है ।

किन्तु यह भावना भी अन्य भावनाओं के समान अब लुप्त हो रही है । सूर्य तथा अन्य बड़े-बड़े ग्रहों पर अपने ध्यान को केन्द्रित करने के बाद ज्योतिषी लोग सब अत्यंत छोटे-छोटे ग्रहों का, जो विश्व को परिपूर्ण कर रहे हैं, अध्ययन करने लगे हैं । उन्होंने यह पता लगाया है कि ग्रहों और नक्षत्रों के बीच जो स्थान हैं, वे सभी दिशाओं में छोटे-छोटे द्रव्यों के समूह से परिपूर्ण और अतिक्रमित होते रहते हैं । ये द्रव्य पृथक् रूप में अदृश्य और अत्यन्त सूक्ष्म हैं, किन्तु सामूहिक रूप में सर्वशक्तिमान हैं ।

ये ही अत्यंत सूक्ष्म वस्तुएं द्रुत गति से अनन्त अवकाश के बीच होकर दौड़ती रहती हैं । उनमें प्रत्येक स्थान में निरन्तर संघर्ष, एकत्रीकरण और विश्लेषण होता रहता है । आधुनिक ज्योतिषी इन्हीं वस्तुओं को, उनकी गति-विधियों को, जो अपने अंशों को अनुप्राणित करती हैं, और उनके संपूर्ण साम-

जस्य को, सौर-मंडल की उत्पत्ति का कारण बताते हैं। आगे चलकर यह भी हो सकता है कि पृथिवी का गुरुत्वाकर्षण इन्हीं सूक्ष्म वस्तुओं की अशृंखल और असंबद्ध गतिविधियों का (अणुओं के कम्पन का, जो सब दिशाओं में व्यक्त होता है) परिणाम समझा जाय। इस प्रकार केन्द्र, शक्ति का उद्गम-स्थान, जो आरम्भ में पृथिवी से सूर्य तक स्थानान्तरित हुआ था, अब विकीर्ण और विस्तृत मालूम पड़ता है। यह सर्वत्र है, और किसी एक खास जगह में नहीं है। ज्योतिष-शास्त्र के द्वारा हम यह देखते हैं कि सौर-मंडल की रचना अत्यंत सूक्ष्म वस्तुओं को लेकर होती है; जिस शक्ति द्वारा सौर-मंडल का नियमन होता है, वह शक्ति स्वयं इन्हीं सूक्ष्म वस्तुओं के समुदायों में संघर्ष होते रहने का परिणाम है। नक्षत्र-मंडल में सामंजस्य इसलिए बना रहता है कि यह एक योजना है, उन असंख्य गतियों का परिणाम है, जो परस्पर एकत्र, पूर्ण और साम्यभाव धारण करती रहती हैं।

इस नवीन भावना के साथ-साथ विश्व का संपूर्ण स्वरूप ही परिवर्तित हो जाता है। संसार पर किसी शक्ति द्वारा शासन होने की धारणा, पूर्व-निश्चित नियम तथा पूर्व-निश्चित सामंजस्य, लुप्त हो जाते हैं, और उनका स्थान ग्रहण कर लेता है वह सामंजस्य, जिसका आभास फोरिये को मिला था, और जो असंख्य वस्तुओं की विशृंखल और असंबद्ध गतियों का परिणाम है। इन असंख्य वस्तुओं में प्रत्येक की गति पृथक्-पृथक् है और वे सब एक-दूसरे के साथ सामंजस्य रखती हैं।

केवल ज्योतिष-शास्त्र में ही यह परिवर्त्तन हो रहा हो, सो बात नहीं। समस्त शास्त्रों के सिद्धांत में बिना किसी अपवाद के यह परिवर्तन हो रहा है, चाहे वे शास्त्र प्रकृति के अध्ययन से संबंध रखते हों, या मानव-अध्ययन से।

भौतिक विज्ञान में ताप, चुम्बक-शक्ति और विद्युत की सत्ता लुप्त हो जाती है। इन दिनों यदि कोई जड़वादी उत्तप्त या विद्युन्मय शरीर के सम्बन्ध में कुछ कहता है तो वह इनमें किसी अचेतन समूह को नहीं देखता, जिसमें किसी अज्ञात शक्ति को जोड़ने की आवश्यकता हो। वह इस शरीर में और

उसके चतुर्दिक स्थान में उन अत्यंत छोटे-छोटे अणु-परमाणुओं की गति और कम्पन को जानने का प्रयत्न करता है, जो सब दिशाओं में प्रचंड वेग से दौड़ते रहते हैं, जिनमें स्पंदन, गति और जीवन होता है, और जो अपने स्पंदन, आघात और जीवन से उष्मा, प्रकाश, चुम्बक या विद्युत उत्पन्न करते हैं। सेन्द्रिय जीवन (Organic Life) से संबंध रखनेवाले विज्ञान में जाति और उसके विभिन्न रूपों की भावना का स्थान व्यक्ति के विभिन्न रूपों की भावना ग्रहण कर रही है। वनस्पति शास्त्रवेत्ता और जन्तुविद्याविद् व्यक्ति का, उसके जीवन का तथा उसने अपनी परिस्थिति के अनुकूल अपने को जो बना लिया है, उसका अध्ययन करते हैं। शुष्कता या आर्द्रता, सर्दी या गर्मी, पोषण की प्रचुरता या दरिद्रता, तथा बाह्य परिस्थिति की क्रिया के प्रति उसकी जो न्यूनाधिक संवेदनशीलता होती है और उसकी प्रक्रिया से उसमें जो परिवर्त्तन उत्पन्न होते हैं, उनसे जातियों की उत्पत्ति होती है; और जातियों के परिवर्त्तन इस समय जीवशास्त्रवेत्ता के लिए परिणाम-मात्र हैं—प्रत्येक व्यक्ति में पृथक्-पृथक् जो परिवर्त्तन हुए हैं, उसीकी समष्टि है। व्यक्ति के अनुसार ही जाति होगी। व्यक्तियों के ऊपर उनकी परिस्थिति का, जिन परिस्थितियों में वे रहते हैं, असंख्य प्रभाव पड़ता है और उनमें से प्रत्येक अपने-अपने ंग से अपनी परिस्थिति के अनुकूल अपनेको बनाता है।

इस समय जब कोई शरीर-शास्त्रवेत्ता किसी वृक्ष या प्राणी के जीवन के सम्बन्ध में कुछ कहता है तो उसका लक्ष्य किसी एक अदृश्य व्यवित पर न होकर एक समुदाय पर, असंख्य पृथक्-पृथक् व्यक्तियों की जीव-समष्टि पर, होता है। वह अग्निवर्द्धक, विषयपरायण स्नायविक इन्द्रियों के संघ की चर्चा करता है, जो आपस में एक-दूसरे से घनिष्ठता से मिली हुई हैं और एक-दूसरे की कुशलता या अकुशलता का परिणाम अनुभव करती हैं; किन्तु प्रत्येक का अपना जीवन अलग-अलग होता है। अवयवों के प्रत्येक भाग की रचना स्वतन्त्र क्षुद्र कोषों द्वारा हुई है, जो आपस में मिलकर अपने अस्तित्व के प्रतिकूल दशाओं के विरुद्ध संग्राम करते हैं। व्यक्ति भी संघों का एक विश्व है, बल्कि यों कहना चाहिए कि वह स्वयं एक सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्मांड है।

समष्टिभूत प्राणियों के इस विश्व में शरीर-शास्त्रवेत्ता को स्नायु-केन्द्र, मांस-तन्तु और रक्त के स्वतन्त्र कोष दीख पड़ते हैं। वह उन असंख्य श्वेत रक्त-कणों को पहचानता है, जो जीवाणुओं से संक्रान्त शरीर के अंगों में आक्रमणकारियों के साथ युद्ध करने के लिए प्रवेश करते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि आधुनिक काल में उसे सूक्ष्म कोष में स्वतन्त्र अवयव देख पड़ते हैं, जिनमें प्रत्येक का अपना पृथक् जीवन होता है जो स्वयं अपने अस्तित्व पर दृष्टि रखता है और दूसरों के साथ मिलकर तथा समूह बनाकर उसे प्राप्त करता है।

संक्षेप में हम यों कह सकते ह कि प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रियों का विश्व है, प्रत्येक इन्द्रिय कोषों का विश्व है और प्रत्येक कोष अत्यन्त छोटे-छोटे कोषों का विश्व है; और इस जटिल विश्व में समग्र की कुशलता प्रत्येक सूक्ष्मतम अणु की कुशलता की समष्टि पर सम्पूर्णतया निर्भर करती है। इस प्रकार जीवन के सिद्धान्त में ही सम्पूर्ण क्रान्ति उत्पन्न हो जाती है, किन्तु खासकर मनोविज्ञान में ही यह क्रान्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न करती है।

अभी हाल तक मनोविज्ञानवेत्ता मनुष्य को एक सम्पूर्ण अविभाज्य प्राणी बताया करते थे। धार्मिक परम्परा के प्रति सत्यनिष्ठ रहते हुए, वे मनुष्यों को भला और बुरा, बुद्धिमान और मूर्ख, स्वार्थी और परोपकारी की श्रेणी में गिना करते थे। अठारहवीं शताब्दी के जड़वादी भी आत्मा की तथा उसके अविभाज्य अस्तित्व की सत्ता मानते थे।

किन्तु इस समय यदि कोई मनोविज्ञानवेत्ता इस तरह की बातें करे, तो उसके सम्बन्ध में हम क्या कहेंगे ?.आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता मनुष्य में पृथक् गुणों तथा स्वतन्त्र प्रवृत्तियों का समूह पाता है, जो आपस में एक समान होती हैं, अपना कार्य स्वतन्त्र रूप में करती हैं, परस्पर साम्यभाव रखती हैं और बराबर एक-दूसरे का विरोध करती रहती हैं। समष्टि रूप में मनुष्य अपनी योग्यताओं का, अपनी सम्पूर्ण प्रवृत्तियों, मस्तिष्क-कोषों और स्नायु-केन्द्रों का परिणाम-मात्र है, जो परिणाम सदा परिवर्त्तनशील होता है। ये सब

एक-दूसरे के साथ इस प्रकार घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं कि उनमें प्रत्येक की प्रतिक्रिया अन्य सबों पर होती रहती है, किन्तु उनका अपना पृथक् जीवन होता है, और वे किसी केन्द्रीय—अवयव—आत्मा के अधीनस्थ नहीं होते।

इस प्रकार आप देखेंगे कि इस समय सम्पूर्ण प्रकृति-विज्ञान में एक गम्भीर परिवर्त्तन हो रहा है। यह बात नहीं है कि इस समय छोटी-छोटी बातों तक का विश्लेषण हो रहा है, जिनकी पहले उपेक्षा की गई थी। नहीं! ये तथ्य कुछ नए नहीं हैं; किन्तु उनपर विचार करने की प्रणाली का इस समय क्रम-विकास हो रहा है। यदि हमें कुछ शब्दों में इस प्रवृत्ति का लक्षण बताना हो तो हम कह सकते हैं कि यदि पूर्वकाल में विज्ञान ने परिणामों और बड़े-बड़े अंकों का अध्ययन करने का प्रयत्न किया था, तो इस समय वह अत्यंत छोटे-छोटे अंकों के अध्ययन का प्रयत्न करता है, जिसके जोड़ से उन अंकों की रचना हुई है और जिसमें वह इस अंतरंग समष्टि के साथ-साथ स्वतंत्रता और व्यक्तित्व पाता है।

मानवी बुद्धि को प्रकृति में जो सामंजस्य दीख पड़ता है, और जो सामंजस्य दृश्यों की स्थिरता का प्रतिपादन-मात्र है, उसे आधुनिक वैज्ञानिक इस समय जितना अधिक समझ रहा है, उतना पहले उसने कभी नहीं समझा था; किन्तु अब आधुनिक वैज्ञानिक उसकी व्याख्या करते हुए यह नहीं कहता कि यह सामंजस्य किसी बुद्धिमान आदमी ने किसी पूर्व-निश्चित योजना के अनुसार निश्चित किया है।

जिसे लोग 'प्राकृतिक नियम' कहा करते थे, वह घटनाओं के बीच एक निश्चित संबंध के सिवा और कुछ नहीं है, जिस संबंध को हम क्षीण-रूप में देखते हैं, और प्रत्येक 'नियम' कारण-संबंधी घटना का 'अस्थायी रूप' धारण करता है; अर्थात्—यदि अमुक दशाओं में अमुक घटना हो, तो उसके परिणाम-स्वरूप अमुक घटना होगी। घटना से बाहर कोई भी नियम नहीं है—प्रत्येक घटना अपनी परवर्त्ती घटना पर नियमन करती है, किसी नियम पर नहीं।

जिसे हम प्रकृति का सामंजस्य कहते हैं, उसमें कोई भी बात पूर्व-कल्पित नहीं होती। संघर्ष और संग्राम की भावना इसे सिद्ध करने के लिए पर्याप्त

है। इस प्रकार की घटना शताब्दियों तक वर्त्तमान रहेगी, क्योंकि जिस योजना की, साम्यावस्था की यह द्योतक है, उसे स्थापित होने में शताब्दियां लगी हैं; किन्तु इस प्रकार की कोई दूसरी घटना एक क्षण से भी अधिक नहीं ठहरेगी, यदि उस प्रकार का क्षणस्थायी साम्य एक क्षण में ही उत्पन्न हुआ होगा। हमारे सौर-मंडल के ग्रह यदि प्रतिदिन आपस में टकराते नहीं, न एक-दूसरे को नष्ट करते हैं, और लाखों वर्ष तक कायम रहते हैं, तो इसका कारण यह है कि वे उस साम्यावस्था का निदर्शन करते हैं, जिसे असंख्य अन्ध-शक्तियों के परिणामस्वरूप स्थापित होने में लाखों शताब्दियां लग गई हैं। ज्वालामुखी के आघातों से यदि महादेशों का निरन्तर ध्वंस नहीं होता रहता है, तो इसका कारण यह है कि एक-एक कण को लेकर उनकी रचना में हजारों शताब्दियां लग गई हैं, तब वे अपने वर्त्तमान रूप को प्राप्त हुए हैं। किन्तु बिजली एक क्षण के लिए ही स्थायी होगी, क्योंकि यह साम्यावस्था के क्षणिक भेद का—शक्ति के आकस्मिक पुनर्वितरण का—निदर्शन है।

इस प्रकार सामंजस्य एक क्षणस्थायी समाधान के रूप में प्रतीत होता है, जो समस्त शक्तियों के बीच स्थापित हो चुका है और जो एक सामयिक योजना-मात्र है। और यह योजना केवल एक शर्त्त पर ही हर सकती है। वह शर्त्त है इसमें निरन्तर परिवर्त्तन होते रहना। परस्पर-विरोधी क्रियाओं के परिणाम का वह प्रतिक्षण निदर्शन करती है। इनमें किसी भी एक शक्ति की क्रिया में बाधा पड़ने से सामंजस्य लुप्त हो जाता है। शक्ति अपने परिणाम को संचित करेगी, उसे प्रकाश में आना ही पड़ेगा, वह अपनी क्रिया का अवश्य प्रयोग करेगी, और यदि अन्य शक्तियां इसकी अभिव्यक्ति में बाधा पहुंचायंगी तो इससे उसका लोप नहीं होगा, बल्कि वर्त्तमान व्यवस्था को उलट-पलट करके तथा सामंजस्य नष्ट करके एक नए प्रकार की साम्यावस्था ढूंढ़ निकालने और एक नवीन योजना की रचना के लिए कार्य करने में उसका अन्त हो जायगा। ज्वालामुखी का विस्फोट इसी रूप में होता है। ज्वालामुखी की रुकी हुई शक्ति स्तम्भित लावाओं को भंग करके—जिनके कारण वह अपने गैस को, लावा को, तापोज्ज्वल

भस्म को, बाहर नहीं फेंक सकती थी——नष्ट हो जाती है। मानव-समाज की क्रान्तियां भी इसी तरह की होती हैं।

मानव-समाज से सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञान में भी इसके साथ-ही-साथ समान रूप में रूपान्तर हो रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इतिहास राज्यों का इतिहास होने के बाद राष्ट्रों का और फिर इसके बाद व्यक्तियों के अध्ययन का इतिहास बन जाता है। इतिहासकार यह जानना चाहता है कि राष्ट्र किस प्रकार के मनुष्यों द्वारा गठित हुआ था, उनका रहन-सहन कैसा था, उनके विश्वास क्या थे, उनकी जीविका के साधन क्या थे, समाज का कौन-सा आदर्श उनके सामने परिलक्षित था और उक्त आदर्श तक पहुंचने के लिए उनके पास साधन क्या थे? और इनसब शक्तियों की क्रिया से, जिनकी पहले उपेक्षा की गई थी, वह महान् ऐतिहासिक घटना की व्याख्या करता है।

इसी प्रकार वह विज्ञानवेत्ता, जो व्यवस्था-शास्त्र का अध्ययन करता है, अब किसी विधिबद्ध विधान से सन्तुष्ट नहीं होता। मानव-जाति-विज्ञान-वेत्ता के समान वह उन संस्थाओं का मूल कारण जानना चाहता है, जो एक के बाद दूसरी स्थापित होती हैं। वह युग-युगान्तर के उनके क्रम-विकास का अनुगमन करता है, और इस अध्ययन में वह स्थानीय रीति-नीति, रस्म-रिवाज-सम्बन्धी कानून——जिसके द्वारा अज्ञात जनता की रचनात्मक प्रतिभा सब काल में प्रकट हुई है——और इन रीति-रिवाजों की अपेक्षा लिखित कानून पर बहुत कम ध्यान देता है। इस दिशा में एक सम्पूर्ण नूतन विज्ञान का सम्पादन हो रहा है। यह विज्ञान अबतक की निश्चित भावनाओं को, जिन्हें हमने स्कूल में ग्रहण किया था, उलट-पलट देगा और इतिहास की उसी रूप में व्याख्या करेगा, जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या किया करता है।

अर्थशास्त्र, जो प्रारम्भ में राष्ट्रों के धन का अध्ययन समझा जाता था, इस समय व्यक्तियों के धन का अध्ययन बन गया है। वह इस बात के जानने की कम चिन्ता करता है कि अमुक राष्ट्र का विदेशी वाणिज्य विस्तृत है

या नहीं; वह इस बात का आश्वासन चाहता है कि किसान या श्रमजीवी की झोपड़ी में रोटी का अभाव तो नहीं है। वह प्रत्येक द्वार पर जाता है, चाहे वह राज-प्रासाद हो, या गरीब की कुटिया, और वह धनी तथा दरिद्र दोनों से प्रश्न करता है—आपके प्रयोजन और विलास-सम्बन्धी आवश्यकताओं की कहां तक पूर्ति हुई है ?

जब वह यह देखता है कि प्रत्येक राष्ट्र के अधिकांश लोगों की अत्यन्त जरूरी आवश्यकताएं पूर्ण नहीं होतीं तो वह अपने-आपसे उसी प्रकार प्रश्न करने लगता है, जिस प्रकार एक शरीर शास्त्रवेत्ता किसी पौधे या पशु के सम्बन्ध में प्रश्न करता है––"ऐसे कौन-से उपाय हैं, जिनसे सब लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो और साथ ही शक्ति का कम-से-कम क्षय हो ? समाज किस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को और फलतः सब लोगों को अधिक-से-अधिक सन्तोष की गारंटी दे सकता है ?" अर्थ-विज्ञान का रूपान्तर इसी दिशा में हो रहा है; और अबतक एक साधारण घटना के रूप में, जिसका अर्थ अल्पसंख्यक धनी सम्प्रदाय के स्वार्थ के लिए किया जाता था, रहकर यह एक वास्तविक विज्ञान––मानव-समाज का शरीर-शास्त्र—बनता जा रहा है।

इस प्रकार जबकि एक नवीन दर्शन का, ज्ञान के एक नवीन दृष्टि-कोण का, सृजन हो रहा है, हम यह देख सकते हैं कि समाज के सम्बन्ध में एक विभिन्न धारणा—प्रचलित धारणा से सर्वथा विभिन्न––इस समय निर्मित हो रही है। अराजकता के नाम पर समाज के अतीत और वर्त्तमान जीवन की एक नवीन व्याख्या की जा रही है, और इसके साथ-साथ हमें उसके भविष्य के सम्बन्ध में भी पूर्वाभास मिलता है। भूत और भविष्य दोनों का अर्थ उसी भावना से किया जाता है, जो प्राकृतिक विज्ञान की उपर्युक्त व्याख्या में प्रकट हुई है। अतएव अराजकता एक नवीन दर्शन-शास्त्र के उपादान के रूप में प्रतीत होती है, और यही कारण है कि अराजकवादियों का आधुनिक समय के महान् विचारशील विद्वानों और कवियों के साथ अनेक विषयों के सम्बन्ध में सम्पर्क होता रहता है।

असल बात तो यह है कि जिस मात्रा में मानवीय बुद्धि अल्पसंख्यक पुरोहित, सेनापति और जजों के—जो सब अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रयत्न करते हैं और जिस प्रभुत्व को वेतनभोगी वैज्ञानिकों द्वारा स्थायी बनाने की कोशिश की जाती है——भावों से अपनेको मुक्त कर पाती है, उसी मात्रा में समाज की एक ऐसी धारणा उत्पन्न होती है, जिसमें इन शासक अल्प-सम्प्रदायों के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। इस प्रकार का समाज पहले की पीढ़ियों के परिश्रम से संचित सामाजिक पूंजी पर अपना अधिकार जमाता है, अपना संगठन इस प्रकार करता है, जिससे इस पूंजी का उपयोग सबके स्वार्थों के लिए हो, और शासक अल्प-सम्प्रदायों के अधिकार को पुनर्स्थापित किये बिना अपने को स्थापित करता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की क्षमताओं, मानव-प्रकृतियों और व्यक्तिगत शक्तियों का समावेश होता है। यह किसीको भी अपने बहिर्गत नहीं रखता। यह संग्राम और विवाद के लिए भी आह्वान करता है, क्योंकि हम यह जानते हैं कि विवाद के समय में, जबतक स्वतन्त्रतापूर्वक यह विवाद होता रहा और अधिकारियों ने किसीका पक्ष ग्रहण नहीं किया, मानव-प्रतिभा की उच्चतम उड़ान हुई, और इससे महान् उद्देश्य सिद्ध हुए थे। अतीत की संचित निधि में समाज के सब लोगों के समान अधिकार को एक तथ्य के रूप में स्वीकार करते हुए यह शासक और शासितों में, प्रभुत्व करनेवाले और जिन लोगों पर प्रभुत्व किया जाता है उनमें, तथा शोषण करनेवाले और जिनका शोषण किया जाता है उनमें, कोई भेद नहीं मानता; और अपने बीच एक प्रकार की सामंजस्यपूर्ण सुसंगति स्थापित करने का प्रयत्न करता है। उसका यह प्रयत्न मनुष्यों को किसी प्रभुत्व के अधीनस्थ करने के लिए नहीं होता, जो प्रभुत्व मिथ्या रूप में समाज का प्रतिनिधि मान लिया जाता है और न एकरूपता स्थापित करने के लिए होता है, बल्कि सब लोगों को स्वतन्त्र रूप में विचार करने, स्वतन्त्र रूप में कार्य करने और स्वतन्त्र रूप में मिलने-जुलने के लिए उत्प्रेरित करने के लिए होता है।

यह व्यक्तित्व का चरम विकास चाहता है, और इसके साथ ही यह भी

चाहता है कि व्यक्ति के स्वेच्छा-सम्मिलन का उसके सब रूपों में, सब मात्राओं में और समस्त कल्पनीय उद्देश्यों के लिए उच्चतम विकास हो। इस प्रकार के सम्मिलनों में निरन्तर परिवर्त्तन होता रहता है; किन्तु उनके साथ स्थायित्व के उपादान भी रहते हैं, और वे निरन्तर नवीन रूप धारण करते रहते हैं, जो सब लोगों की बहुसंख्यक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उपयुक्त होते हैं।

ऐसे समाज में, जिसे पूर्वनिश्चित कानून द्वारा स्थायी आकार धारण करनेवाले नियम अप्रीतिकर मालूम पड़ते हैं, और जो विभिन्न शक्तियों तथा प्रत्येक प्रकार के प्रभावों के बीच परिवर्तनशील और नैमित्तिक साम्य में सामंजस्य की खोज करता है, ये शक्तियां मनुष्य के पराक्रम को अग्रसर करती हैं और ये शक्तियां प्रगति के मार्ग में तथा स्वच्छ प्रकाश में अपनेको स्वतन्त्रतापूर्वक विकसित करने और एक-दूसरे के भार में समता कायम रखने में अनुकूल सिद्ध होती हैं।

आदर्श समाज की यह भावना नई नहीं है। इसके विपरीत जब हम लोकप्रिय संस्थाओं——जैसे फिरके, ग्राम-समाज, पेशों के संघ——और मध्य-युग की प्रथम अवस्था के नगर-समाज के इतिहास का विश्लेषण करते हैं, तो हमें इस भावना के अनुसार समाज के गठन के लिए वही लोकप्रिय प्रवृत्ति दीख पड़ती है। यह प्रवृत्ति स्वेच्छाचारी अल्पसंख्यकों द्वारा बराबर शृंखलित होती रहती है। सभी लोकप्रिय आन्दोलनों पर इसकी छाप न्यूनाधिक रूप में लगी हुई थी। नवीं शताब्दी में हम इन्हीं भावों को धार्मिक भाषा में, जो उस समय प्रचलित थी, स्पष्ट रूप में व्यक्त पाते हैं। दुर्भाग्यवश पिछली शताब्दी के अन्त तक यह आदर्श धार्मिक भावना से कलुषित बना रहा। अब आधुनिक काल में समाज की भावना, जो सामाजिक घटनाओं के निरीक्षण से निश्चित हुई है, अपने आच्छादन से मुक्त हुई है।

इस आधुनिक समय में ही समाज का यह आदर्श, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपने-आप पर शासन करता है, आर्थिक, राजनैतिक और नैतिक पहलुओं में एक-साथ ही दृढ़ हुआ है। यह आदर्श समष्टिवाद की

आवश्यकता के आधार पर हमारे सामने उपस्थित होता है, जो हमारे आधुनिक समाज पर उसके वर्त्तमान स्वरूप और उत्पादन द्वारा लाद दिया गया है ।

वास्तव में आज हम इस बात को अच्छी तरह जान गए हैं कि जबतक आर्थिक दासता कायम है, तबतक स्वतन्त्रता की चर्चा करना व्यर्थ है । "स्वाधीनता की चर्चा मत करो, दरिद्रता ही दासता है,"––व्यर्थ का सिद्धान्त नहीं है; यह सिद्धान्त श्रमजीवी श्रेणी की जनता के भावों में प्रवेश कर गया है; यह समूचे वर्त्तमान साहित्य से छन-छनकर निकल रहा है । यह उन लोगों को भी अपने साथ बहाये लिये जाता है, जो दूसरों की दरिद्रता पर जीवन धारण करते हैं, और यह उनकी उस शेखी को भी दूर करता है, जिसके बल पर पहले वे शोषण करने के अपने अधिकार का दावा करते थे ।

सारे संसार के लाखों साम्यवादी इस बात से सहमत हैं कि पूंजीपतियों के सामाजिक दोहन का वत्तमान रूप बहुत दिनों तक कायम नहीं रह सकता । पूंजीपति स्वयं इस बात को महसूस कर रहे हैं कि पूंजीवाद का अन्त होना ही चाहिए, इसीलिए वे पहले के समान इसका समर्थन करने का साहस नहीं कर सकते । अब उनका एकमात्र तर्क, जो हमारे सामने पेश किया जाता है, यही है––"तुमने इससे अच्छी किसी चीज का आविष्कार नहीं किया है !" किन्तु सम्पत्ति के वर्त्तमान रूप के घातक परिणामों को वे अस्वीकार नहीं कर सकते, और न सम्पत्ति पर अपने अधिकार का औचित्य ही सिद्ध कर सकते हैं । जबतक उन्हें कार्य करने की स्वतन्त्रता मिलेगी, तबतक वे इस अधिकार का उपयोग करेंगे; किन्तु वे किसी भावना के आधार पर इसे अवस्थित करने का प्रयत्न नहीं करेंगे । यह सहज ही समझा जा सकता है ।

उदाहरण के लिए पेरिस शहर को लीजिये । कितनी ही शताब्दियों में इसका निर्माण हुआ है । यह समग्र राष्ट्र की प्रतिभा का फल है । बीस या तीस पीढ़ियों के परिश्रम का परिणाम है । इस नगर के श्रमजीवी निवासी इसे सुसज्जित करने, परिष्कृत करने, इसका पोषण करने तथा इसे विचार

और कला का केन्द्र बनाने के लिए प्रतिदिन परिश्रम करते हैं। ऐसे किसी निवासी के सामने कोई दावे के साथ यह कैसे कह सकता है कि पेरिस की सड़कों को सुशोभित करनेवाले राजप्रासाद न्यायतः उन लोगों के ही हैं जो आज कानूनन उनके मालिक बने बैठे हैं, जबकि वे सब मिलकर उन प्रासादों को मूल्यवान बनाते हैं और बिना उनके उनका मूल्य कुछ भी नहीं रह जायगा ?

जनता के जो उपदेशक हैं, उनके कौशल से इस प्रकार की मिथ्या भावना कुछ समय तक कायम रखी जा सकती है। श्रमजीवियों का बृहत समुदाय इस सम्बन्ध में ध्यान तक नहीं देता; लेकिन ज्योंही विचारशील लोगों का एक अल्पसंख्यक दल इस प्रश्न को लेकर आन्दोलन करने लगेगा और इसे जनता के सामने उपस्थित करने लगेगा, उस समय इसके परिणाम के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जायगा। उस समय लोकमत का यही उत्तर होगा--"लूट द्वारा ही इन्होंने यह सब धन संचित कर रखा है !"

इसी प्रकार किसानों को यह क्योंकर विश्वास कराया जा सकता है कि मध्यम श्रेणी के लोगों की जो जमीन है, वह उस जमीन के मालिक की है, जिसका उसपर कानूनी दावा है, जबकि एक किसान अपने आस-पास की तीस मील जमीन के हरएक टुकड़े का इतिहास हमें बता सकता है ? इसके सिवा उसे इस बात का क्योंकर विश्वास कराया जा सकता है कि राष्ट्र के लिए यह लाभप्रद है कि अमुक महाशय अपने उद्यान के लिए कई बीघे जमीन रखें, जबकि उनके पड़ोसी बहुसंख्यक किसान उस जमीन को जोतने के लिए खुशी से तैयार हो जायंगे ?

और किसी कारखाने में काम करनेवाले मजदूर या खान में काम करनेवाले खनक को यह किस प्रकार यकीन दिलाया जा सकता है कि कारखाना और खान न्यायतः उन लोगों की है, जो उनके वर्त्तमान मालिक हैं, जबकि मजदूर और खनक सरकार के उस कलंक, घूसखोरी, लूट-खसोट और कानून-संगत चोरी को साफ-साफ देख रहे हैं, जिनकी बदौलत बड़ी-बड़ी व्यापारिक और औद्योगिक सम्पत्ति अर्जित की जाती है ?

असल बात तो यह है कि जनता ने अर्थशास्त्रियों द्वारा दिखाये गए कुतर्कों में कभी विश्वास किया ही नहीं। इस प्रकार के कुतर्क इसलिए ही उपस्थित किये जाते हैं कि उनसे शोषणकर्त्ताओं के अधिकारों की पुष्टि हो, न कि जिनका शोषण हो रहा है, उनके मत में परिवर्त्तन हो। किसान और श्रमजीवियों ने दुःख से उत्पीड़ित तथा धनिक श्रेणी के समर्थन से वंचित होने के कारण वस्तु-स्थिति को ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया, सिवा इसके कि उन्होंने समय-समय पर विद्रोह द्वारा अपने अधिकारों का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया है। और यदि श्रमजीवियों ने कभी यह सोचा हो कि एक दिन ऐसा आवेगा, जब पूंजी पर व्यक्तिगत अधिकार होने से सब लोगों को लाभ होगा और उसे धनागार में परिणत करके सब लोग उसके भागी होंगे, तो उनका यह भ्रम अन्य बहुत-से भ्रमों के समान ही नष्ट हो रहा है। श्रमजीवी इस बात्त को महसूस कर रहे हैं कि वे अपने उत्तराधिकार से च्युत कर दिये गए हैं और तबतक च्युत बने रहेंगे, जबतक वे अपने मालिकों की सम्पत्ति का—जो सम्पत्ति उनके प्रयत्नों से अर्जित की गई है—छोटे-से-छोटा भाग हड़ताल या विद्रोह करके छीन न लें। इसका अर्थ यह है कि अपने मालिक की सम्पत्ति का वह थोड़ा-सा भाग प्राप्त करने के लिए उन्हें गोली की वर्षा नहीं तो क्षुधा की यन्त्रणा तो अपने ऊपर लेनी ही पड़ेगी और कैद का सामना करना पड़ेगा।

किन्तु वर्त्तमान प्रथा की एक और बहुत बड़ी बुराई अधिकाधिक रूप में प्रकट हो रही है और वह यह कि सम्पत्ति पर कुछ व्यक्तियों का अधिकार होने से जीवन के लिए और उत्पादन के लिए जो सब वस्तुएं आवश्यक हैं—जमीन, घर, भोजन और औजार—वे चन्द आदमियों के हाथ में एक बार चले जाने से, उन प्रयोजनीय वस्तुओं के उत्पादन में, जिनसे सब लोगों का कल्याण होता है, बराबर बाधा पहुंचती रहेगी। श्रमजीवी स्पष्ट रूप में यह अनुभव करता है कि हमारी वर्त्तमान औद्योगिक क्षमता सब लोगों को प्रचुर परिमाण में आवश्यक वस्तुएं दे सकती है; लेकिन इसके साथ ही वह यह भी देखता है कि किस प्रकार सरकार और पूंजीवाद

की प्रथा सार्वजनिक कल्याण पर विजय प्राप्त करने के मार्ग में सब तरह से बाधा पहुंचा रही है ।

भौतिक समृद्धि के लिए जितना उत्पादन आवश्यक है, उससे अधिक उत्पादन करने की बात तो दूर रही, हम लोग काफी मात्रा में ही उत्पादन नहीं कर पाते । जब एक किसान् व्यवसायियों के उपवन और उद्यान पर, जिसके चारों ओर जज और घुड़सवार पहरा देते हैं, लालसा-भरी दृष्टि से देखता है, जब वह उन स्थानों को फसल से भरपूर देखने का स्वप्न देखता है, उस समय वह इस बात को जानता है कि इन स्थानों में खेती करने से उन ग्रामों में खाद्य पदार्थों की कोई कमी नहीं रहेगी, जिनके निवासी सूखी रोटियों पर गुजर करते हैं ।

खान में काम करनेवाला मजदूर, जिसे मजबूर होकर सप्ताह में तीन दिन बेकार रहना पड़ता है, उस लाखों टन कोयले के सम्बन्ध में सोचता है, जिसे वह खान से निकाल सकता है और जिसकी उसे अपनी गरीब घर-गृहस्थी के लिए सख्त जरूरत है ।

एक मजदूर, जिसका कारखाना बन्द हो जाता है और जो काम की खोज में गलियों की खाक छानता फिरता है, अपने समान ही ईंट पाथने-वालों को बेकार देखता है, जबकि पेरिस की जनसंख्या का एक पंचमांश गंदी झोपड़ियों में रहता है; वह मोचियों को इस बात की शिकायत करते सुनता है कि काम नहीं है, जबकि बहुसंख्यक लोगों को जूते की जरूरत है । इसी प्रकार के और भी कितने ही दृष्टांत दिये जा सकते हैं ।

सारांश यह कि कुछ अर्थशास्त्रियों को अत्यधिक उत्पादन पर निबन्ध लिखने और अत्यधिक उत्पादन को प्रत्येक औद्योगिक संकट का कारण बताने में आनन्द मिलता है; किन्तु यदि उनसे कहा जाय कि फ्रांस में उत्पन्न होनेवाली ऐसी किसी चीज का नाम तो बताइये, जो सम्पूर्ण जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त परिमाण में उत्पन्न होती हो, तो वे बगलें झांकने लगेंगे । निश्चय ही यह अनाज नहीं है, क्योंकि देश को बाहर से अनाज मंगाना पड़ता है । यह शराब भी नहीं है, किसान बहुत थोड़ी मात्रा

में शराब पीते हैं। शराब के बदले में वे फल के आसव का व्यवहार करते हैं और नगर-निवासियों को दूषित वस्तुओं पर सन्तोष करना पड़ता है। यह घर भी नहीं हो सकता, क्योंकि अब भी लाखों आदमियों को बहुत ही रद्दी झोपड़ियों में रहना पड़ता है, जिनमें केवल एक या दो खिड़कियां होती हैं। यह अच्छी या बुरी पुस्तकें भी नहीं हो सकतीं, क्योंकि ग्रामवासियों के लिए पुस्तकें अब भी विलासिता की वस्तु समझी जाती हैं। सिर्फ एक चीज आवश्यकता से अधिक परिमाण में उत्पन्न की जाती है, वह है बजट को चट कर जानेवाला व्यक्ति। परन्तु राजनैतिक अर्थशास्त्रियों के व्याख्यानों में इस प्रकार के वाणिज्य-द्रव्य का जिक्र नहीं किया जाता, यद्यपि वाणिज्य-द्रव्य के सारे गुण इन व्यक्तियों में मौजूद होते हैं, और ये सबसे ऊँची कीमत देनेवाले के हाथ अपनेको बेच डालने के लिए बराबर तैयार रहते हैं।

जिसे अर्थशास्त्री लोग आवश्यकता से अधिक उत्पादन कहते हैं, वह उन मजदूरों की क्रय-शक्ति के परे उत्पादन है, जो पूंजीवाद और सरकार द्वारा दरिद्र बना दिये गए हैं। इस प्रकार का आवश्यकता से अधिक उत्पादन वर्त्तमान धनमूलक उत्पादन का घातक लक्षण है, क्योंकि श्रमजीवी अपने वेतन से उन चीजों को खरीद नहीं सकते, जिन्हें उन्होंने उत्पन्न किया है। इसके साथ ही वे उस बेकार जन-समुदाय को परिपुष्ट करते हैं, जो उनके परिश्रम की कमाई पर जीवन धारण करता है।

वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्था का मूल तत्त्व ही यह है कि श्रमजीवी जिस वस्तु को उत्पन्न करता है, उसका वह कभी उपभोग नहीं कर सकता, और उसकी कमाई पर जिन्दगी बसर करनेवालों की संख्या दिन-दिन बढ़ती ही जाती है। जितना ही जो देश औद्योगिक दृष्टि से प्रगतिशील होता है, उतनी ही ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जाती है। इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होता है कि देश के उद्योग-धंधों को उस दिशा में प्रवर्तित करना पड़ता है, जिस दिशा में सब लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति होने के बदले कुछ थोड़े-से लोगों को, एक निश्चित समय में, अधिक-से-अधिक क्षण-स्थायी लाभ होता हो। कुछ लोगों के पास यदि आवश्यकता से अधिक

वस्तु होगी, तो अवश्य ही यह दूसरों की दरिद्रता पर ही हो सकती है, और चाहे जिस उपाय से अधिकतर संख्या में लोगों की दुरवस्था कायम रखनी होगी, जिससे ऐसे लोग बने रहें, जो अपनी क्षमता से उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं के कुछ अंश में ही अपनेको बेच दें। बिना इसके धन का व्यक्तिगत संचय असम्भव है।

हमारी वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्था के ये लक्षण ही उसका मूलतत्त्व हैं। बिना इन लक्षणों के यह कायम रह ही नहीं सकती, क्योंकि भूख की ज्वाला से विवश हुए बिना कौन ऐसा होगा, जो अपनी श्रमशक्ति को जितना उसमें उत्पन्न करने की क्षमता है, उससे कम मूल्य में बेचने के लिए तैयार हो जाय?

और इस व्यवस्था के जो ये विशेष लक्षण हैं, उनसे ही उसकी बुराई सिद्ध हो जाती है।

जबतक इंग्लैण्ड और फ्रांस शिल्प और उद्योग-धंधों में सबसे आगे बढ़े हुए थे और उनके बीच अन्यान्य राष्ट्र औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे और जबतक पड़ोसी राष्ट्र उनका ऊन, उनका सूती माल, उनका रेशम, उनका लोहा तथा यन्त्र और विलासिता के सारे सामान इतने मूल्य पर खरीदा करते थे, जिससे वे अपने इन खरीदारों के धन से मालामाल हो सकें, तबतक तो मजदूरों को यह आशा दिलाकर खुश किया जा सकता था कि उन्हें भी लूट के माल में अधिक-से-अधिक हिस्सा मिलेगा, किन्तु ये दशाएं अब लुप्त हो रही हैं। पिछड़े हुए राष्ट्र भी अब सूती कपड़ा, ऊन, रेशम, कल-पुर्जे और विलासिता के सामान उत्पन्न करने लगे हैं। कई प्रकार के व्यवसायों में तो वे आगे भी बढ़ गये हैं। वे वाणिज्य-व्यवसाय और शिल्प के अग्रदूतों के साथ केवल सुदूर विदेशों में ही नहीं, बल्कि उन अग्रदूतों के अपने देशों में भी प्रतियोगिता कर रहे हैं। कुछ वर्षों के अन्दर जर्मनी, स्विट्ज़रलैण्ड, इटली, अमरीका, रूस और जापान भी महान् उद्योग-प्रधान देश बन गये हैं। मैक्सिको, इंडीज, यहां तक कि सर्विया भी प्रगतिशील हो रहे हैं, और यदि जापान का अनुकरण करते हुए चीन भी संसार के बाजारों के लिए माल तैयार करने लगे, तो क्या होगा?

इसका परिणाम यह हुआ है कि औद्योगिक संकट, जो अब बार-बार होने लगे हैं और जो अधिक समय तक कायम रहते हैं, बहुत-से व्यवसायों के लिए दीर्घस्थायी बनते जा रहे हैं।

वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्था के अन्दर सब एक सूत्र में ग्रंथित और सब एक साथ मिले हुए हैं और सब मिलकर औद्योगिक और व्यवसाय-सम्बन्धी प्रणाली का—जिसके अन्दर हम लोग रह रहे हैं—पतन अवश्यम्भावी बना रहे हैं। इस प्रणाली की अवधि अब कुछ वर्षों की ही है—शताब्दियों की नहीं। इसके लिए अब समय की अपेक्षा है, और जरूरत है इस बात की कि मौका आते ही हम इसपर जोरदार आक्रमण कर दें। आलसी लोग इतिहास का निर्माण नहीं करते, वे तो उसे सहन करते हैं।

इसी कारण सभ्य राष्ट्रों में शक्तिशाली अल्पसंख्यक समुदाय यह मांग पेश करता है कि पूर्ववर्ती पीढ़ियों द्वारा संचित समस्त सम्पत्ति समाज को लौटा दी जाय। भूमि, खान, कारखाना, वासगृह और आवागमन के साधनों पर सर्व-साधारण का अधिकार होना चाहिए, यही इन प्रभुत्वशाली दलों का मूलमन्त्र बन गया है। धनी और शक्तिशाली लोगों का प्रिय अस्त्र—दमन—अब विद्रोह की भावना की विजयशील प्रगति को अवरुद्ध करने में कुछ नहीं कर सकता। और यदि लाखों श्रमजीवी शक्ति-प्रयोग द्वारा सत्ताधारियों के हाथ से जमीन और कल-कारखाने छीन लेने के लिए बगावत नहीं कर बैठते हैं तो विश्वास रखिये कि इसका कारण इच्छा का अभाव नहीं है। वे अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं—ऐसे अवसर की, जैसा सन् १८४८ में उपस्थित हुआ था। उस समय वे अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा सहायता प्राप्त करने की आशा से वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्था का विध्वंस करना आरंभ कर देंगे।

जिन लोगों ने इस विषय का अध्ययन किया है, वे एक मत से इस बात का समर्थन करते हैं कि समाज समस्त सम्पत्ति पर अपना अधिकार प्राप्त करके सब लोगों को, जहांतक उत्पादन का सम्बन्ध है, इस बात का विश्वास दिला सकता है कि प्रतिदिन चार या पांच घं` तक शारीरिक

परिश्रम करने के बदले उन्हें प्रचुर परिमाण में वस्तुएं मिल सकेंगी। यदि प्रत्येक व्यक्ति बालकपन से ही इस बात को सीख ले कि वह जो भोजन करता है, वह जिस घर में रहता है, वह जिस पुस्तक को पढ़ता है, आदि चीजें कहां से आईं; और यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर ऐसी आदत डाले कि वह अपने मानसिक श्रम के साथ-साथ किसी प्रकार के व्यवसाय में शारीरिक परिश्रम भी करे, तो समाज़ सहज ही इस कार्य को पूरा कर सकेगा। इसके सिवा एक बात और भी है, वह यह कि निकट-भविष्य में चीज़ों की पैदावार और भी सरल ढंग से हो सकेगी। यदि सब लोग मिलकर काम करें, तो सभ्य समाज थोड़े परिश्रम से ही कितना पैदा कर सकता है और उसके द्वारा कितने महान् कार्य सम्पादित हो सकते हैं, इसकी कल्पना करने से ही हम समझ सकते हैं कि वर्त्तमान स्थिति में कितनी भयंकर क्षति हो रही है। दुर्भाग्यवश उस अध्यात्म-विद्या ने, जिसे राजनैतिक अर्थशास्त्र कहा जाता है, परिश्रम की मितव्ययिता पर, जो उसका मूलतत्त्व होना चाहिए, कभी विचार तक नहीं किया है।

हमारे वर्त्तमान कल-पुर्जे और साधन-संयुक्त साम्यवादी समाज में धन की सम्भावना में कोई सन्देह नहीं रह गया है। सन्देह तभी उत्पन्न होते हैं, जब विचारणीय प्रश्न यह होता है कि क्या ऐसे समाज का अस्तित्व हो सकता है, जिसमें मनुष्य के कार्य राज्य के नियन्त्रण के अधीन न हों; सार्वजनिक कल्याण के लिए क्या यह आवश्यकता नहीं है कि यूरोपीय सम्प्रदाय अपनी उस थोड़ी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बलिदान करे, जिसे उसने वर्त्तमान शताब्दी में इतना अधिक बलिदान करके फिर से प्राप्त किया है? साम्यवादियों में एक दल का यह विश्वास है कि राज्य की बलिवेदी पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बलिदान किये बिना इस प्रकार का परिणाम असम्भव है। दूसरा दल—जिसमें हम लोग शामिल हैं—इसके विपरीत यह विश्वास करता है कि राज्य को उठा देने, व्यक्ति द्वारा पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने, स्वतन्त्र समझौता और सम्मिलन करने और बिलकुल स्वतन्त्र संघ द्वारा

ही हम साम्यवाद को प्राप्त कर सकते हैं, जिसका अर्थ है हमारे सामाजिक उत्तराधिकार पर सर्वसाधारण का अधिकार और सम्पत्ति के उत्पादन में सब लोगों का समान भाग।

यही प्रश्न है, जो इस समय अन्य सब प्रश्नों को गौण बना रहा है। साम्यवाद को इसे अवश्य ही हल करना पड़ेगा, चाहे इसमें उसके समस्त प्रयत्न भले ही खतरे में पड़ जायं और उसका बाह्य विकास पंगु हो जाय।

अब हम सावधानी के साथ इसका विश्लेषण करेंगे।

यदि प्रत्येक साम्यवादी अपने विचारों को पूर्वकाल की ओर ले जाय, तो अवश्य ही उसे वे सब मत्सर याद आ जायंगे, जो उस समय उसके मन में उदित हुए थे, जबकि पहले-पहल उसन यह धारणा की थी कि पूंजीवादी प्रथा और भूमि तथा धन पर व्यक्तिगत अधिकार—इन दोनों का नष्ट किया जाना आवश्यक हो गया है।

यही भावना आज उस मनुष्य में उत्पन्न होती है, जो पहले-पहल यह सुनता है कि राज्य, उसके कानून, प्रबन्ध, शासन और केन्द्रीकरण की सम्पूर्ण प्रथा का उच्छेद ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक हो गया है, और एक के बिना दूसरे का उच्छेद असम्भव है। हमारी सम्पूर्ण शिक्षा—जो धर्म और राज्य द्वारा दोनों के स्वार्थों पर ध्यान रखकर दी गई है—इस भावना पर विद्रोह कर बैठती है।

पर क्या इस वजह से उसकी सत्यता में कुछ कमी आ सकती है? अपनी मुक्ति के लिए हमें कितने ही पक्षपातों की बलि देनी पड़ी थी। राज्य में विश्वास भी एक प्रकार का पक्षपात है। क्या हम इस मत्सर की बलि न देकर इसे जीवित रखेंगे? यदि मनुष्य अपनी सृष्टि के आदिकाल से ही बराबर समाज में रहा है, तो राज्य भी सामाजिक जीवन का एक रूप है, और जहांतक यूरोप के समाजों का सम्बन्ध है, यह बहुत ही आधुनिक है। राज्यों के स्थापित होने के पूर्व भी हजारों वर्ष तक मनुष्य रहा करते थे। मेसिडोनिया और रोम के साम्राज्य निर्मित होने के पूर्व यूनान और रोम का अस्तित्व था और हम आधुनिक यूरोपवासियों के लिए तो आधुनिक राज्यों

का प्रारम्भ सिर्फ सोलहवीं शताब्दी से ही होता है। मध्यकालीन स्वतंत्र समाज की सम्पूर्ण पराजय हो जाने के बाद ही सैनिक, न्यायकर्त्ता, जमींदार और पूंजीपतियों की वह पारस्परिक बीमा कम्पनी कायम हो सकी, जिसे हम राज्य कहते हैं।

सोलहवीं शताब्दी में ही स्थानीय स्वाधीनता, स्वतन्त्र सम्मिलन एवं संगठन और सब प्रकार के स्वाधीन संघों के भावों पर, जिनके वे ही सब अधिकार थे जो इस समय राज्य द्वारा अपहृत हो चुके हैं, घातक आघात पहुंचाया गया था। इसी समय जब धर्म और राजकीय शक्ति के बीच मैत्री हुई और उसने उसी संस्था का अन्त कर डाला, जो संघ के सिद्धान्त पर अवस्थित थी, जिसका अस्तित्व नवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक वर्त्तमान था और जिसने यूरोप में मध्ययुग के स्वतन्त्र नगरों का महान् युग उत्पन्न किया था।

हम उन साधनों को अच्छी तरह जानते हैं, जिनके द्वारा ईश्वर, जमींदार, पुरोहित, व्यापारी, न्यायकर्त्ता, सैनिक और राजा की इस संस्था ने अपना आधिपत्य स्थापित किया था। सब प्रकार के स्वतंत्र संघों—ग्राम्य समाज, वणिक्-संघ और भ्रातृ मण्डल—और मध्ययुग के नगरों को नेस्त-नाबूद करके ही यह आधिपत्य स्थापित किया गया था। ग्राम्य समाज की भूमि को और वणिक् संघों की सम्पत्ति को जब्त करके ऐसा हुआ था। मनुष्यों के बीच के सभी प्रकार के स्वतन्त्र समझौते को पूर्ण रूप में कठोरता के साथ रोककर ऐसा किया गया था। धर्म और राज्य ने हत्या, लौहचक्र, फांसी के तख्ते और तलवार के बल पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। इसके बाद वे 'प्रजा' के एक ऐसे असम्बद्ध समूह पर राज्य करने में समर्थ हुए, जिसमें परस्पर किसी प्रकार की प्रत्यक्ष एकता नहीं थी।

अभी थोड़े दिन हुए, जबसे हमने आपस में मिलने-जुलने के उस अधिकार को, जिसका किसान और कारीगर लोग मध्ययुग में स्वतन्त्रतापूर्वक उपभोग किया करते थे, संग्राम और विद्रोह द्वारा फिर से जीतना शुरू कर दिया है।

और, अबतक यूरोप में ऐसी हजारों स्वाधीन संस्थाएं स्थापित हो चुकी हैं, जहां लोग आपस में मिलकर अध्ययन करते हैं, शिक्षा देते हैं, शिल्प, वाणिज्य, विज्ञान, कला, साहित्य आदि की चर्चा करते हैं, दुर्बलों और असहायों का पोषण करते हैं, इस प्रकार के शोषण का प्रतिरोध करते हैं, मनोरंजन करते हैं, गम्भीर कार्य करते हैं, आत्म-तुष्टि और आत्म-त्याग करते हैं, और इसी प्रकार के अन्य बहुत-से कार्य करते हैं, जिनसे मनुष्य का जीवन क्रियात्मक और चिन्ताशील बनता है। इस प्रकार की समितियों को हम देश के कोने-कोने में—राजनैतिक, आर्थिक, कलात्मक, बौद्धिक सभी क्षेत्रों में—स्थापित होते हुए देखते हैं। इनमें कुछ तो गुलाब के फूल के समान क्षणस्थायी होती हैं तो कुछ दस-बीस वर्षों तक अपना अस्तित्व बनाये रहती हैं। ये सभी—अपने प्रत्येक दल, मंडल, शाखा या विभाग की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखते हुए—परस्पर संघबद्ध होने, अपने में तथा सीमान्त के बाहर के राष्ट्रों में एकता स्थापित करने का प्रयत्न करती हैं। वे सभ्य मनुष्यों के समस्त जीवन को एक ऐसे जाल से आच्छादित करने की चेष्टा करती हैं, जिसके फंदे एक-दूसरे से सम्बद्ध और बुने हुए होते हैं। इनकी संख्या कई हजारों तक पहुंच चुकी है; उनके अनुयायी लाखों की संख्या में होंगे—यद्यपि अभी पचास वर्ष से भी कम ही हुए होंगे, जबकि धर्म और राज्य ने इनमें से इने-गिने का ही अस्तित्व सहन करना आरम्भ किया था—बहुत ही कम का।

इन समितियों ने सब कहीं राज्य के कार्यों पर दखल जमाना शुरू कर दिया है, और ये एक केन्द्रीभूत राज्य के स्थान पर स्वयंसेवकों की स्वतंत्र क्रिया स्थापित करने का प्रयत्न करती हैं। इंग्लैण्ड में हम देख रहे हैं कि चोरी के विरुद्ध रक्षा करने के लिए बीमा कम्पनियां स्थापित हो रही हैं; समुद्र तट की रक्षा, भूमि की रक्षा के लिए स्वयंसेवक-समितियां स्थापित हो रही हैं, जिन्हें राज्य अपने अंगूठे के नीचे रखने का प्रयत्न करता है, जिससे वे जनता पर प्रभुत्व करने की साधन बन जायं, यद्यपि शुरू में उनका उद्देश्य था बिना सरकारी सहायता के कार्य करना। यदि धर्म और राज्य का हस्त-

क्षेप नहीं होता, तो स्वतंत्र समितियों का अबतक शिक्षा के विशाल क्षेत्र पर भी अधिकार हो गया होता। और, सारी कठिनाइयों के होते हुए भी, इन्होंने इस क्षेत्र पर भी आक्रमण करना शुरू कर दिया है और अपना प्रत्यक्ष प्रभाव डाला भी है।

जब हम इन संस्थाओं की प्रगति को देखते ह, जो राज्य का——जो सब प्रकार से अपने आधिपत्य को कायम रखना चाहता है——अस्तित्व और उसका विरोध होते हुए भी हुई है, और जब हम देखते हैं कि किस प्रकार ये स्वाधीन संस्थाएं सब बातों पर आक्रमण कर रही हैं और केवल राज्य द्वारा ही उनके विकास में बाधा पहुंच रही है, तो उस समय हम यह मानने के लिए बाध्य होते हैं कि आधुनिक समाज में एक शक्तिशाली प्रवृत्ति है और एक छिपी हुई शक्ति मौजूद है। तब हम अपने-आपसे यह प्रश्न करते हैं, यदि पांच, दस, या बीस वर्ष बाद——समय की कोई बात नहीं है——जमींदारों, महाजनों, पुरोहितों, न्यायकर्त्ताओं और सैनिकों की एक-दूसरे को सहायता पहुंचानेवाली बीमा कम्पनियों को श्रमजीवी लोग विद्रोह करके नष्ट कर देने में सफल हो जावें; यदि जनता चन्द महीने के लिए अपने भाग्य की मालिक बन जाय, और उस धन पर दखल करले जिसकी उत्पत्ति उसके द्वारा हुई है और स्वत्त्व की दृष्टि से जो धन उसका है, तो क्या वे सचमुच उस खून चूसनेवाले राज्य को फिर से स्थापित करने लगेंगे? या वे इसकी अपेक्षा आपस के समझौते और प्रत्येक स्थान की विभिन्न और परिवर्त्तनशील आवश्यकताओं के अनुसार साधारण से लेकर जटिल तक का संगठन करने का प्रयत्न नहीं करेंगे, जिससे उस धन को वे अपने अधिकार में कर सकें, एक-दूसरे की जीवन-रक्षा की गारंटी करें और जीवन के लिए जो आवश्यक हो, उसका उत्पादन करें?

क्या वे वर्त्तमान शताब्दी की सर्वप्रधान प्रवृत्ति, निष्केन्द्रीकरण, स्वराज्य और स्वतंत्र इकरारनामे का अनुसरण करेंगे; अथवा वे इस प्रवृत्ति के विरुद्ध चलकर विनष्ट आधिपत्य को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न करेंगे?

शिक्षित मनुष्य इस विचार मात्र पर कांप उठते हैं कि कोई दिन ऐसा

भी हो सकता है, जब समाज में न्यायकर्त्ता, पुलिस या जेल के अधिकारी न हों।

किन्तु साफ बात तो यह है कि क्या आपको इनकी उतनी जरूरत है, जितनी सड़ी-गली किताबों में आपको बताई गई है? और यह ध्यान रहे कि ये पुस्तकें उन वैज्ञानिकों द्वारा लिखी गई हैं, जो साधारणतः यह बात तो अच्छी तरह जानते हैं कि उनसे पहले क्या लिखा गया है, पर जो अधिकांश में जनता की तथा उसके वर्त्तमान दैनिक जीवन की बिलकुल उपेक्षा करते हैं।

यदि हम बिना किसी भय के सिर्फ पेरिस की गलियों में ही नहीं, जहां पुलिस के आदमी भरे रहते हैं, किन्तु खासकर देहाती लोगों के घूमने-फिरने के स्थान में, जहां कदाचित् ही कोई राहगीर मिलता है, विचरण कर सकते हैं, तो क्या पुलिस की बदौलत ही हमारी रक्षा होती है? या ऐसे लोगों के अभाव के कारण, जो हमें लूटना या हमारी हत्या करना पसन्द करते हैं? मैं उस व्यक्ति की बात नहीं करता, जो लाखों रुपये अपनी जेब में डाले घूमता है। इस प्रकार का व्यक्ति ऐसे स्थानों में भी जल्द लूटा जाता है, जहां पुलिसवालों की संख्या काफी होती है। नहीं, मैं ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में कहता हूं, जो आत्म-रक्षा के लिए भय करता है, न कि अपनी थैली के लिए, जिसमें अन्यायोपार्जित सिक्के भरे हुए हैं। क्या उसका भय वास्तविक है? इसके सिवा क्या अनुभव ने हमें हाल ही में यह सिद्ध करके नहीं दिखा दिया है कि हत्यारे जैक ने लन्दन की पुलिस की आँखों के सामने ही अपने सारे कारनामे किये थे, और वह अपने हत्या-कर्म से तभी बाज आया, जबकि खुद ह्वाइटचेनल की जनता ने उसका पीछा करना शुरू किया?

अपने साथ रहनेवाले नागरिकों के साथ हमारा रोज-रोज का जो सम्बन्ध होता है, उसमें क्या आप समझते हैं कि वस्तुतः न्यायकर्त्ता, जेल के अधिकारी और पुलिस के कारण ही समाज-विरोधी कार्य बढ़ने नहीं पाते? न्यायकर्त्ता, जो सदा खूंखार बना रहता है, क्योंकि उसपर कानून का नशा

छाया हुआ है, अभियोग लगानेवाला, पुलिस को खबर देनेवाला, पुलिस के गुप्तचर तथा इसी श्रेणी के और लोग, जो अदालतों के इर्द-गिर्द मंडराया करते हैं और किसी प्रकार अपना पेट पालते हैं, क्या ये लोग समाज में व्यापक रूप से दुर्नीति का प्रचार नहीं करते ? मामलों-मुकदमों की रिपोर्टें पढ़िये, पर्दे के अन्दर नजर डालिये, अपनी विश्लेषक बुद्धि को अदालतों के बाहरी भाग तक ही परिमित न रखकर भीतर ले जाइये, और तब आपको जो-कुछ मालूम होगा, उससे आपका मन बिलकुल भन्ना उठेगा।

क्या कैदखाने—जो मनुष्य की समस्त इच्छा-शक्ति और चरित्र-शक्ति का नाश कर डालते हैं, जिनकी चहारदीवारी के भीतर इतने कुकर्म बन्द हैं, जितने संसार के किसी स्थान में नहीं हैं—हमेशा अपराधों के विश्व-विद्यालय नहीं रहे हैं ? क्या न्यायकर्त्ता की अदालत क्रूरता का स्कूल नहीं है ? इसी प्रकार और भी समझिये।

जब हम यह कहते हैं कि राज्य और उसके विभिन्न अंग उठा दिये जायं, तो हमसे बराबर यही कहा जाता है कि हम ऐसे समाज का स्वप्न देख रहे हैं, जिसमें हमारी अपेक्षा दरअसल बहुत अच्छे लोगों का वास होगा। किन्तु नहीं, हजार बार नहीं। हमारा कहना सिर्फ इतना ही है कि इन संस्थाओं द्वारा मनुष्य को और भी बदतर नहीं बनने देना चाहिए।

बेन्थम की बहुत पुरानी सलाह का अनुसरण करते हुए यदि आप कानूनी बल-प्रयोग के घातक परिणामों—प्रत्यक्ष और खासकर अप्रत्यक्ष परिणामों—पर विचार करने लग जायं, तो टाल्सटाय के समान, हम सबके समान, आप भी कानूनी बाध्यता के प्रयोग से घृणा करने लग जायंगे, और आप कहने लगेंगे कि समाज के पास हजारों अन्य साधन हैं, जिनसे वह समाज-विरोधी कार्यों का प्रतिषेध कर सकता है। यदि आज वह उन साधनों की उपेक्षा कर रहा है, तो इसका कारण यह है कि धर्म और राज्य द्वारा शिक्षा दिये जाने के कारण हमारी भीरुता और उदासीनता की भावना हम इस विषय को स्पष्ट रूप से नहीं देखने देती। जब कोई बालक अपराध करता है, तो उसे दण्ड देना कितना सहज होता है; इसमें किसी प्रकार के

वाद-विवाद के लिए स्थान ही नहीं होता ! एक मनुष्य को फांसी पर लटका देना भी कितना आसान है—खासकर जब जल्लाद मौजूद है, जिसे प्रत्येक फांसी के लिए एक निश्चित रकम दी जाती है—और इससे हमें अपराधों के कारण पर विचार करने से छुटकारा मिल जाता है ।

यह अक्सर कहा जाता है कि अराजकवादी भावी स्वप्नलोक में विचरण करते हैं, और वर्त्तमान घटनाओं पर दृष्टि नहीं देते । किन्तु बात यह है कि हम इन घटनाओं को खूब अच्छी तरह देखते हैं और उनके असली रूप में देखते हैं, और यही कारण है कि हम अपने चारों तरफ के पक्षपातरूपी जंगल में कुल्हाड़ा लेकर चलते हैं ।

कल्पना-राज्य में विचरण करना तथा मनुष्यों को वे जैसे हैं, उससे अच्छा समझना तो दूर रहा, हम उन्हें वास्तविक रूप में देखते हैं, और यही कारण है कि हम दृढ़तापूर्वक यह कहते हैं कि अच्छे-से-अच्छे मनुष्य भी प्रभुता के प्रयोग से दरअसल खराब बना दिये जाते हैं । 'शक्ति-संतुलन' और 'अधिकारियों पर नियन्त्रण' का सिद्धान्त महज ढोंग है, और इसका आविष्कार उन लोगों द्वारा किया गया है, जिन्होंने जनता को, जिसे वे तुच्छ दृष्टि से देखते हैं, यह विश्वास कराने के लिए कि जनता स्वयं अपना शासन कर रही है, सत्ता को अपने हाथ में कर लिया है । हम मनुष्यों को जानते हैं, और इसीलिए हम उन लोगों से, जो यह खयाल करते हैं कि बिना शासक के मनुष्य एक-दूसरे को निगल जांयगा, कहते हैं कि "आप उस राजा की तरह तर्क करते हैं, जिसने सीमान्त पर भेज दिये जाने पर पुकारकर कहा—'मेरे बिना मेरी दीन प्रजा की क्या दशा होगी' ?"

अहा ! यदि मनुष्य उसी प्रकार का श्रेष्ठ प्राणी होता, जैसाकि प्रभुत्व के उपासक हमें बताना पसन्द करते हैं, यदि हम वस्तुस्थिति से अपनी आँखों को मूंदकर, उनके समान ही स्वप्न और मायालोक में अवस्थान करते और यह समझते कि जो अपनेको सत्ताधारी समझते हैं, वे सचमुच श्रेष्ठ प्राणी हैं, तो शायद हम भी उनके समान ही आचरण करते और शासकों के विशेष गुणों में विश्वास करते ।

यदि सत्ताधारी सज्जन सचमुच इतने बुद्धिमान और जनहितैषी होते, जैसेकि उनके प्रशंसक उन्हें बताया करते हैं, तो हम कितनी सुन्दर सरकार और पितृवत् पालन करनेवाले रामराज्य का निर्माण कर सकते ! इस प्रकार के राज्य में मालिक श्रमजीवी के प्रति अत्याचारी न बनकर उसका पिता बन जाता ! कारखाना आनन्द का प्रासाद बन जाता, और वहां श्रम-जीवियों का शारीरिक ह्रास कभी नहीं होता। न्यायकर्त्ता में इतनी क्रूरता नहीं होती कि वह जिस व्यक्ति को जेल भेजता, उसकी स्त्री और बच्चों को वर्षों तक भूख और विपत्ति की ज्वाला में तपाकर अन्त में किसी दिन घुल-घुलकर मरने देता। सरकारी वकील अपनी वक्तृत्व शक्ति की करा-मात दिखाने के अपूर्व सुख के लिए अभियुक्त के सिर का गाहक नहीं बनता; और न कहीं हम जेलर या जल्लाद को जज के आदेशानुसार कार्य करते देखते, जिनमें खुद इतना साहस नहीं होता कि वे अपने ारा दिए गए दण्ड को स्वयं कार्य-रूप में परिणत करें।

ओह ! ज्योंही हम इस बात को मान लेंगे कि जो लोग शासन करते हैं, वे श्रेष्ठ श्रेणी के जीव होते हैं, और साधारण मनुष्यों की दुर्बलताओं का उन्हें क़दाचित् ही, या बिलकुल, ज्ञान नहीं होता, उस समय हम कितने सुन्दर रामराज्य की कल्पना कर सकेंगे, कितना मनोहर स्वप्न देख सकेंगे ! उस समय इतना ही काफी होगा कि पुरोहिती ढंग से वे एक-दूसरे पर नियन्त्रण रखें, और राष्ट्रीय दुर्घटनाओं का इलाज कागजी घोड़े दौड़ाकर करदें। आश्चर्य की बात तो यह है कि चुनाव के समय उसी साधारण जन-समूह द्वारा उनका मूल्य आंका जाता है, जिसे आपस के व्यवहार में वे बिल्कुल मूर्ख समझते हैं; किन्तु जब उसे (जनसमूह को) अपने मालिकों का निर्वाचन करना पड़ता है, तो उस समय वे साक्षात् ज्ञान की मूर्ति बन जाते हैं।

शासक-वर्ग द्वारा जितने शासन-विज्ञान की कल्पना की गई है, उन सबमें इसी प्रकार की खामखयाली बातें भरी पड़ी हैं; किन्तु हमारा मनुष्य-सम्बन्धी ज्ञान हमें बतला रहा है कि मनुष्य इतना मूर्ख नहीं है कि वह इस

प्रकार का स्वप्न देखता रह जाय। शासक और शासितों के गुणों का माप करने के लिए हमारे पास दो तुलादंड नहीं हैं; हम यह जानते हैं कि हम भी दोषशून्य नहीं हैं, और हममें से अच्छे-से-अच्छे व्यक्ति भी प्रभुता के प्रयोग से शीघ्र दूषित बन सकते हैं। हम मनुष्यों को, जैसा वह है, उसी रूप में लेते हैं, और यही कारण है कि हम एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य पर शासन किया जाना नापसन्द करते हैं, और अपनी शक्ति भर—शायद वह काफी जोरदार नहीं है—इस प्रकार के शासन का अन्त कर डालने का प्रयत्न करते हैं; किन्तु इसे नष्ट कर देना ही पर्याप्त नहीं है। हमें यह भी जानना चाहिए कि निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में विचार न करने के कारण ही जनता समस्त क्रान्तियों में भटकती रही है। विध्वंस के बाद पुन-र्निर्माण का भार उसने मध्यम-श्रेणी के लोगों के ऊपर छोड़ दिया, जिन्हें अपने उद्देश्य को चरितार्थ करने के सम्बन्ध में यथार्थ धारणा नहीं थी, और फलतः जिन्होंने अपने लाभ के लिए शासन का पुनर्गठन किया।

यही कारण है कि अराजकता जब सत्ता के समस्त स्वरूपों का विध्वंस करने लगती है, जब यह कानूनों को रद्द कर देने और जिस साधन द्वारा कानून जनता पर लादे जाते हैं, उसे उठा देने के लिए कहती है, जब यह धर्मयाजकों की समस्त संस्था को मानने से इन्कार करती है, और आपस में स्वतंत्रता-पूर्वक समझौता करने का उपदेश देती है, तब वह इसके साथ-साथ सामाजिक रीति-रस्म के मूल्यवान अंश को कायम रखने और विस्तृत करने का भी प्रयत्न करती है, क्योंकि बिना इसके कोई भी मानव या पशु-समाज कायम नहीं रह सकता। अराजकता सिर्फ यही चाहती है कि सामाजिक रीति-रस्म चंद लोगों के अधिकार द्वारा कायम न होकर सब लोगों के सम्मिलित कार्य द्वारा कायम रखे जायं।

समाज के लिए समाजतंत्रमूलक रीति-रस्म और संस्थाएं अत्यंत आव-श्यक हैं, सिर्फ इसलिए नहीं कि इनके द्वारा आर्थिक कठिनाइयों का समा-धान होता है, बल्कि इसलिए भी कि ये उन सामाजिक रीति-नीतियों को कायम रखती हैं, और उन्हें विकसित करती हैं जिनके द्वारा मनुष्यों का

परस्पर मिलना-जुलना होता है। इनके द्वारा मनुष्यों के बीच इस प्रकार का संबंध स्थापित होना चाहिए जिससे व्यक्ति का स्वार्थ समष्टि का स्वार्थ समझा जाय। ऐसा होने से ही मनुष्य आपस में विभक्त न होकर एक हो सकते हैं।

जब हम अपने मन में यह प्रश्न करते हैं कि मानव या पशु-समाज में किस उपाय द्वारा एक निश्चित नैतिक सतह कायम रखी जा सकती है, उस समय हमें तीन ही उपाय दीख पड़ते हैं; समाज विरोधी कार्यों का दमन, नैतिक शिक्षा और पारस्परिक सहायता का अभ्यास। और चूंकि ये तीनों परीक्षा की कसौटी पर कसे जा चुके हैं, इसलिए उनके परिणामों से हम उनके संबंध में विचार कर सकते हैं।

जहां तक दमन की व्यर्थता का संबंध है, यह तो वर्त्तमान समाज की अव्यवस्था और क्रांति की आवश्यकता, जिसे हम सब लोग चाहते हैं या अवश्यंभावी समझते हैं, द्वारा पर्याप्त रूप में सिद्ध हो रहा है। अर्थनीति के क्षेत्र में जबरदस्ती का परिणाम औद्योगिक दासता आ है, और राजनैतिक क्षेत्र में इसका परिणाम राज्य की गुलामी। इसका अर्थ यह है कि नागरिकों में पहले जो सब बंधन थे, वे अब विच्छिन्न हो गये हैं, और राष्ट्र एक केन्द्रीय सत्ता के प्रति आज्ञाकारी प्रजावर्ग के असंबद्ध समूह के सिवा और कुछ नहीं रह गया है।

बल-प्रयोग की प्रथा ने वर्त्तमान समस्त राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक बुराइयों की सृष्टि करने में काफी सहायता ही नहीं पहुँचाई है, बल्कि समाज की नैतिक सतह को ऊँचा उठाने में इसने अपनी संपूर्ण असमर्थता का भी प्रमाण दिया है। यह उस नैतिक सतह को भी कायम रखने में समर्थ नहीं हुई है, जहां तक समाज पहले ही पहुँच चुका था। यदि कोई उपकारी देवदूत हमारी आँखों के सामने उन सब अपराधों को प्रत्यक्ष कर दिखाये जो सभ्य समाज में प्रतिदिन, प्रति मिनट अज्ञान के पर्दे में, या स्वयं कानून के संरक्षण में ही हुआ करते हैं, तो समाज उस भयानक अवस्था को जानकर कांप उठेगा। सबसे बड़े राजनैतिक अपराधों के करनेवाले—जैसे,

नेपोलियन तृतीय, अथवा, सन् १८७१ में समाजतंत्र के पतन के बाद मई महीने के खूनी सप्ताह के अपराधी—बेदाग बच जाते हैं। शताब्दियों तक दमन-नीति का प्रयोग किया गया है, और यह इतनी बुरी तरह असफल हुई है कि यह हमें एक ऐसी अन्धकारपूर्ण तंग गली में ले गई है, जिससे हम तभी बाहर निकल सकते हैं, जब हमारे एक हाथ में मशाल और दूसरे हाथ में सत्तात्मक अतीत की संस्थाओं की जड़ में कुठाराघात करने के लिए कुठार हो।

नैतिक शिक्षा की जो महत्ता है, खासकर उस नैतिक शिक्षा की, जो अज्ञात रूप से समाज के अन्दर फैलती रहती है, और हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने दैनिक जीवन के तथ्यों और घटनाओं पर जो आलोचना करता और भाव प्रकट करता है, उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है उसे हम अवश्य मानते हैं; किन्तु यह शक्ति एक ही दशा में समाज के लिए कारगर हो सकती है, और वह यह कि संस्थाओं के आचरण के परिणामस्वरूप जो बहुत-सी परस्पर-विरोधी अनैतिक शिक्षाएं उत्पन्न होती हैं, उनके साथ उसका संघर्ष न हो।

इस प्रकार संघर्ष होने से उसका प्रभाव शून्य या हानिकारक होता है। ईसाई धर्म के नीतिज्ञान को लीजिये, फांसी पर लटकनेवाले प्रभु ईसा के नाम पर जो नैतिक उपदेश दिये जाते हैं, उससे बढ़कर और किस उपदेश का लोगों के मन पर असर पड़ सकता था, और ईसा के बलिदान में जो कवित्व है, सूली देनेवालों को क्षमा कर देने में जो महत्ता है, उसकी रहस्यमयी शक्ति का कितना प्रभाव पड़ सकता था? फिर भी धर्म की अपेक्षा संस्था ही अधिक शक्तिशालिनी सिद्ध हुई। इसके बाद शीघ्र ही ईसाई धर्म, जो साम्राज्यवादी रोम के विरुद्ध एक क्रान्ति था, रोम द्वारा ही विजित हुआ, और ईसाई धर्म ने उसके सिद्धान्त, रीति-नीति और भाषा को ग्रहण कर लिया। ईसाई धर्म ने रोम के कानून को अपना समझकर अपना लिया। इस प्रकार राज्य से मिलकर वह इतिहास में समस्त अर्द्ध-समाज-तन्त्रवादी संस्थाओं का भयंकर शत्रु बन गया, हालांकि आरम्भ में ईसाई

धर्म इन संस्थाओं का समर्थक था।

क्या एक क्षण के लिए भी हम यह विश्वास कर सकते हैं कि नैतिक उपदेश में, जिसका पोषण सार्वजनिक शिक्षा-विभाग के मन्त्रियों के गश्ती-पत्रों में हुआ करता है, वह सृजन-शक्ति होगी, जो सृजन-शक्ति ईसाई धर्म में नहीं थी ? और सच्चे सामाजिक मनुष्यों का मौखिक उपदेश कर ही क्या सकता है, जबकि उसके विरुद्ध सरकारी तथा पूंजीपतियों की उन संस्थाओं के उपदेश की प्रतिक्रिया होती रहती है, जिनका आधार समाज-विरोधी सिद्धान्त है ?

अब तीसरी चीज जो बाकी रह जाती है, वह है संस्था, जिसकी क्रिया इस रूप में हो, जिससे सारे सामाजिक कार्य अभ्यास और सहज-बुद्धि की अवस्था में हो जायं। यह तीसरा साधन—जैसा कि इतिहास से सिद्ध है—कभी अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुआ, दुधारी तलवार के रूप में इसने कभी कार्य नहीं किया और इसका प्रभाव क्षीण तभी हुआ है जब रीति-रस्म अचल और जड़ीभूत बनकर धर्म के रूप बन गये, जब उन्होंने व्यक्ति से कार्य करने की सारी स्वतंत्रता छीनकर उसके व्यक्तित्व को लुप्त कर देने का प्रयत्न किया, और इस प्रकार मनुष्य को उस धर्म के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए विवश किया, जो जड़ीभूत बन जाने के कारण उन्नति का शत्रु बन गया था।

असल बात तो यह है कि अतीतकाल में उन्नति का जो मूल तत्त्व था, या मनुष्य जाति की नैतिक और बौद्धिक उन्नति का साधन था, उसका कारण है, पारस्परिक सहायता का अभ्यास और वे रीति-रस्म, जो मनुष्यों की समानता को मानते थे और जिन रीति-रस्मों ने उन्हें उत्पन्न करने तथा खर्च करने के लिए मानव-समाज को एक साथ मिलाकर परस्पर की सहायता के लिए एकता के सूत्र में ग्रंथित कर दिया था, और उन्हें संघबद्ध करके यह बता दिया था कि अपनेमें से नियुक्त किये गए पंचों के सिवा और किसी दूसरे जज को वे अपने विवाद का निर्णायक न मानें।

प्रत्येक अवसर पर, जब सर्वसाधारण की प्रतिभा से इन संस्थाओं की उत्पत्ति हुई (जब कुछ समय के लिए उक्त प्रतिभा थोड़ी देर के लिए भी स्वतंत्र

हुई है) और जब इन संस्थाओं का विकास एक नई दिशा में हुआ है, तब समाज की नैतिक सतह, उसका भौतिक कल्याण, उसकी स्वतंत्रता, उसकी बौद्धिक प्रगति और उसकी मौलिकता एक कदम आगे बढ़ गई है। इसके विपरीत प्रत्येक अवसर पर इतिहास के पृष्ठों में यह देखा गया है कि विदेशी विजय से या परम्परा से प्रामाणिक माने जानेवाले पक्षपातपूर्ण विचारों के कारण जब-जब मनुष्य समाज शासक और शासित, धनी और श्रमिक में अधिकाधिक विभक्त होता गया है, तब-तब समाज की नैतिक सतह में ह्रास होता गया और जनता की आर्थिक दशा खराब होती गई, जिससे चन्द लोगों के हाथ में धन इकठ्ठा होगया और युग की भावना पतनोन्मुख होगई।

इतिहास हमें यही शिक्षा देता है, और इस शिक्षा से हमने स्वतंत्र समाज-तंत्रवादी संस्थाओं में विश्वास करना सीखा है, जिससे शासन द्वारा अधः-पतित समाज का उत्थान हो।

इस समय हम साथ रहते हुए भी एक-दूसरे को नहीं जानते। हम चुनाव के दिन सभाओं में एकत्र होते हैं, उम्मीदवारों के मिथ्या या कल्पित उद्देश्यों को सुनते हैं और फिर अपने घर वापस लौट जाते हैं। सार्वजनिक हित से संबंध रखनेवाले जितने प्रश्न हैं, उनकी चिन्ता सरकार को रहती है; यह देखना एकमात्र सरकार का ही काम होता है कि हम अपने पड़ोसी के स्वार्थ में खलल न पहुँचावें, और यदि सरकार यह काम नहीं कर सके, तो इस बुराई के प्रतिकार के लिए वह हमें दंड दे।

हमारा पड़ोसी भूख से मर जाय, या वह अपने बच्चों की हत्या कर डाले, इसमें दखल देना हमारा काम नहीं। यह काम पुलिस के आदमियों का है। हम लोग कदाचित ही एक-दूसरे को जानते हैं। हमें एक करने का कोई साधन नहीं होता। इसके विपरीत हमें विलग करने के लिए ही सब साधन मौजूद रहते हैं। और कोई उपाय न देखकर हम सर्वशक्तिमान (पहले यह ईश्वर था, अब सरकार है) से यह याचना करते हैं कि वह यथाशक्ति समाज-विरोधी दुष्कृत्यों को चरम-सीमा पर पहुँचने से रोके।

समाजतंत्रवादी समाज में इस प्रकार का बिलगाव, बाह्य शक्ति में इस

प्रकार का विश्वास, कायम नहीं रह सकता। समाजतंत्रवादी संस्थाओं का निर्माण पार्लमेंट या म्यूनिसिपैलिटी नामधारी व्यवस्थापिका सभाओं के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता। यह काम संपूर्ण समाज का होगा, इसका स्वाभाविक विकास होगा और बृहत् जन-समुदाय की रचनात्मक बुद्धि का यह परिणाम होगा। समाजतंत्रवाद ऊपर से लादा नहीं जा सकता। यदि संपूर्ण समाज का अनबरत और दैनिक सहयोग इसे धारण न करे, तो यह चन्द महीनों के लिए भी कायम नहीं रह सकता। यह स्वतंत्र होकर ही रह सकता है।

जनता में जो हजारों नित्य के साधारण कार्य हुआ करते हैं, उनके बीच अनवरत संयोग स्थापित किये बिना यह कायम नहीं रह सकता। स्थानीय जीवन की सृष्टि किये बिना—जिसमें छोटे-से-छोटा जन-समूह, थोड़े-से घर, गली, मुहल्ले और समाज स्वतंत्र हों—यह कायम नहीं रह सकता। यदि इसके द्वारा समाज में उसकी आवश्यकताओं—जीवन की आवश्यकताओं, विलासिता, अध्ययन और आमोद-प्रमोद के साधन—की पूर्त्ति के लिए सहस्रों संस्थाओं का जाल न बिछ जाय, तो फिर इसका उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार की संस्थाएं संकीर्ण और स्थानीय बनकर नहीं रह सकतीं। उनका झुकाव अवश्य ही अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर होगा (जैसा कि विद्वत् परिषद, साइकिलिस्ट क्लब, लोकोपकारिणी संस्थाएं तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं का हुआ करता है)।

समाजतंत्रवाद द्वारा जो सामाजिक रीति-नीति—आरम्भ में चाहे वह आंशिक ही क्यों न हो—जीवन में उत्पन्न होगी, वह एक ऐसी शक्ति होगी, जो सामाजिक रीति-नीति के मल तत्त्व को कायम रखने और विकसित करने में समस्त दमनात्मक साधनों की अपेक्षा विशेष क्षमताशाली सिद्ध होगी।

सामाजिक संस्था का यही स्वरूप है, जिसमें हम सामंजस्य की भावना का विकास चाहते हैं और जिस भावना को हमारे ऊपर लाद देने का काम धर्म और राज्य ने अपने ऊपर ले लिया है; किन्तु उसका परिणाम कितना

शोचनीय हुआ है, यह हम भलीभांति जानते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि समाजतंत्रवाद और अराजकता दोनों एक साथ नहीं चल सकते, उनके इस कथन का उत्तर हमारी इन बातों में है। आप देखेंगे कि वे दोनों एक-दूसरे के आवश्यक अंग हैं। व्यक्तित्त्व का—व्यक्ति की मौलिकता का—शक्तिशाली विकास तभी हो सकता है, जब भोजन और घर की प्राथमिक आवश्यकताएं पूरी हो जायं, जब जीवन धारण करने के लिए प्रकृति की शक्तियों के विरुद्ध हमारा संग्राम सहल हो जाय, और जब मनुष्य का सारा समय दैनिक जीवन की तुच्छ बातों में ही न लग जाय। ऐसा होने पर ही उसकी बुद्धि, उसकी कलात्मक सुरुचि, उसकी उद्भावनी शक्ति और उसकी प्रतिभा स्वतंत्र रूप से विकसित हो सकती है और महान् कार्यों के लिए प्रयत्न कर सकती है।

वैयक्तिक विकास और स्वतंत्रता के लिए समाजतंत्रवाद सर्वोत्तम आधार है; पर यह वह व्यक्तिवाद नहीं है, जो मनुष्य को स्वार्थ के लिए सबके विरुद्ध युद्ध करने के लिए उत्प्रेरित करता है—व्यक्तिवाद का यही रूप अबतक जाना गया है—बल्कि यह मनुष्य की योग्यता, उसकी मौलिकता के श्रेष्ठ विकास, उसकी बुद्धि, भावना और इच्छाशक्ति के महत्तम सुफल की पूर्ण वृद्धि का द्योतक है।

जब हमारा आदर्श इस प्रकार का है तो फिर हमें इस बात की चिन्ता ही क्या है कि हमारा यह आदर्श शीघ्र चरितार्थ नहीं हो सकता!

हमारा पहला कर्त्तव्य यह है कि हम समाज का विश्लेषण करके, विकास के किसी निश्चित समय में, उसकी विशेष प्रवृतियों का पता लगायें और उनका स्पष्ट वर्णन करें। फिर इसके बाद हम उन लोगों के साथ, जो हमारे जैसे ही विचार रखते हैं, इन प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य करें। और फिर आज से ही, खासकर क्रान्ति के युग में संस्थाओं तथा उन कुसंस्कारों के, जिनके कारण इन प्रवृतियों के विकास में बाधा पहुंचती है, विध्वंस के लिए कार्य करना शुरू कर दें। बस, शान्तिपूर्ण या क्रान्तिकारी उपायों से हम इतना ही कर सकते हैं। हम यह जानते हैं कि इन प्रवृतियों के अनुसार कार्य

करते हुए हम समाज की प्रगति में सहायता पहुंचाते हैं। जो लोग इनका प्रतिरोध करते हैं, वे प्रगति के मार्ग में बाधा डालते हैं। फिर भी लोग अक्सर यह कहा करते हैं कि क्रमशः सफर तय करना चाहिए, और वे निकटतम स्थान तक पहुंचने के उद्देश्य से कार्य भी करते हैं, और तब वे उस पथ को ग्रहण करना चाहते हैं, जो उन्हें वहां तक ले जाता है जिसे वे पहले की अपेक्षा उच्चतर आदर्श मानते हैं।

किन्तु इस प्रकार तर्क करने का अर्थ मेरी समझ में, मानव-प्रगति के वास्तविक स्वरूप को समझने में भूल करना है, और एक ऐसी फौजी उपमा का प्रयोग करना है, जो यहां मौजूं नहीं होती। मनुष्य-जाति गेंद-जैसी लुढ़कनेवाली कोई वस्तु नहीं और न यह मार्च करनेवाला सैन्यदल है। यह एक सम्पूर्ण वस्तु है, जिसका क्रम-विकास एक साथ ही लाखों के समूह में——जिनसे यह बनी हुई है——होता रहता है। इसके लिए यदि आप कोई उपमा चाहें, तो यह उपमा सेन्द्रिय जीवों के विकास के नियमों में मिलेगी, न कि किसी अचेतन गतिशील वस्तु में।

बात यह है कि समाज के विकास का प्रत्येक रूप उन सब बुद्धिमान मनुष्यों की कार्यवाही का परिणाम है, जिनको लेकर वह समाज गठित हुआ है। इसपर लाखों मनुष्यों की इच्छा-शक्ति की छाप लगी रहती है। अतएव बीसवीं शताब्दी में, विकास का क्रम चाहे कुछ भी हो, समाज की यह भावी स्थिति स्वाधीन भावों की जाग्रति का परिणाम प्रकट करेगी, जो जाग्रति इस समय हो रही है। और बीसवीं शताब्दी की संस्थाओं पर इस आन्दोलन का प्रभाव कितनी गहराई के साथ पड़ेगा, यह इन बातों पर निर्भर करेगा कि कितने मनुष्यों ने आज परम्परा से माने जानेवाले पूर्व-संस्कारों का परित्याग किया है, पुरानी संस्थाओं पर आक्रमण करने में कितनी शक्ति खर्च की है, जनता पर कहां तक प्रभाव डाला है और जनता के चित्त पर स्वतन्त्र समाज का आदर्श कितनी स्पष्टता के साथ अंकित किया है।

श्रमजीवियों और किसानों की प्रारम्भिक बुद्धि को सभी दलों ने——इसमें सरकार में विश्वास रखनेवाला साम्यवादी दल भी शामिल है——बराबर ज्ञात

या अज्ञात रूप में दलगत विनयानुशासन द्वारा दबाया है। केन्द्रीय संस्थाओं और कमेटियों द्वारा प्रत्येक विषय में आदेश दिया जाता है, और स्थानीय संस्थाओं का काम है उन आदेशों का पालन करना, 'जिससे संस्था की एकता को खतरा न पहुंचे।' एक शब्द में, सम्पूर्ण शिक्षा, सम्पूर्ण मिथ्या इतिहास इसी उद्देश्य से लिखा गया है ; अर्थशास्त्र के सम्पूर्ण समझ में न आनेवाले अर्द्ध-विज्ञान का इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर विस्तार किया गया है।

जो लोग इन जर्जर चालों को तोड़ने के लिए कार्य करेंगे, जो इस बात को जानेंगे कि व्यक्तियों और जन-समूहों की प्रारम्भिक भावना को किस प्रकार समुत्थित किया जाता है, जो उनके पारस्परिक सम्बन्ध में स्वतंत्र समझदारी के सिद्धान्त के आधार पर जीवन की सृष्टि करने में समर्थ होंगे, जो इस बात को समझेंगे कि वैचित्र्य---यहां तक कि संघर्ष भी---जीवन है और एकरूपता मृत्यु; वे भावी शताब्दियों के लिए ही नहीं, बल्कि शीघ्र ही आनेवाली क्रान्ति के लिए हम लोगों के समय के लिए कार्य करेंगे।

हमें स्वाधीनता के खतरों और दुरुपयोगों से डरने की जरूरत नहीं। जो लोग कुछ नहीं करते, उन्हींसे कोई भूल नहीं होती। जो लोग सिर्फ आज्ञा पालन करना जानते हैं, वे भी उतनी ही, या उनकी अपेक्षा अधिक, भूलें करते हैं जो अपनी बुद्धि और सामाजिक शिक्षा के अनुसार अपना मार्ग आप ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न करते हैं। व्यक्ति की स्वतंत्रता का आदर्श--यदि परिस्थिति के कारण, जिसमें एकता की भावना पर संस्थाओं द्वारा पर्याप्त रूप में जोर नहीं दिया जाता, गलत रूप में समझा जाय---तो वह अवश्य ही व्यक्ति द्वारा इस प्रकार के कार्य करा सकता है, जो मनुष्यता की सामाजिक भावनाओं के प्रतिकूल हों। यदि हम मान भी लें कि ऐसा होता ही है, तो क्या इसी कारण स्वतंत्रता के सिद्धान्त को धता बताई जा सकती है ? तो क्या इसी कारण उन प्रभुओं का उपदेश मान लिया जाय जो लोगों को विचलित होने से रोकने के लिए स्वतंत्र प्रेस पर सैन्सर कायम करते हैं, और एकरूपता तथा विनयानुशासन का भाव बनाये रखने के लिए प्रगतिशील दलों का गला घोंटते हैं ? सन् १७९३ में प्रतिक्रिया की विजय को

निश्चित बनाने के लिए यही तो किया गया था।

व्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर जब हम समाज-विरोधी कार्य होते देखें तो सिर्फ वही किया जाना चाहिए कि 'प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए और ईश्वर सबके लिए' इस सिद्धान्त को हम तिलांजलि दे दें, और किसीके भी सामने इस प्रकार के कार्यों के सम्बन्ध में हम जो-कुछ सोचते हैं उसे साहस-पूर्वक साफ-साफ कह डालें। इससे संघर्ष उत्पन्न हो सकता है; किन्तु संघर्ष ही तो जीवन है। इस संघर्ष से हम उन कार्यों को जितनी खूबी से समझ सकते हैं, उतनी खूबी के साथ पुराने जमे हुए विचारों के प्रभाव में रहकर कदापि नहीं समझ सकते।

यह प्रत्यक्ष है कि जनता के मन में उत्पन्न होनेवाली इतनी गम्भीर क्रांति केवल भाव-राज्य तक ही सीमित नहीं रह सकती,कार्यक्षेत्र तक उसका विस्तार होना निश्चित है। यही कारण है कि नवीन भावों के कारण सब देशों में, सभी संभव दशाओं में, कितने ही विद्रोहात्मक कार्य उद्दीपित हुए हैं; पहले पूंजीवाद और राज्य के विरुद्ध व्यक्ति का विद्रोह, फिर सामूहिक विद्रोह—हड़ताल और श्रमजीवियों का विद्रोह—दोनों ही मनुष्य के मन और उसके कार्य में जनता के विद्रोह यानी क्रांति के लिए तैयारी कर रहे हैं। इस बात में साम्यवाद और अराजकता दोनों ही ने क्रम-विकासवाद के मार्ग का अनुसरण किया है, जो किसी महान् जन-गण विद्रोह के सन्निकट होने पर भावनाओं की शक्ति द्वारा संपन्न होता है। यही कारण है, जिससे केवल अराजकता के ऊपर ही विद्रोहात्मक कार्यों का सारा दायित्व मढ़ना भूल है। जब हम वर्त्तमान शताब्दी के प्रथम २५ वर्षों के विद्रोहात्मक कार्यों का सिंहावलोकन करते हैं, तो हमें मालूम होता है कि विद्रोहात्मक कार्य सब दलों की ओर से किये गए थे।

सम्पूर्ण यूरोप में हम श्रमजीवियों और किसानों के कितने ही विद्रोह पाते हैं। हड़ताल, जिसे किसी समय 'करबद्ध प्रार्थना का युद्ध' समझा जाता था, इस समय सहज ही क्रांति का रूप धारण कर लेती है और कभी-कभी तो विद्रोह के रूप में वह अत्यंत व्यापक हो उठती है। नई और पुरानी दुनिया में हम दर्जनों

की संख्या में हड़तालियों के विद्रोह को क्रांति के रूप में परिणत होते हुए पाते हैं।

यदि आप इन लोगों के समान ही यह चाहते हैं कि व्यक्ति की संपूर्ण स्वतंत्रता और फलतः उसके जीवन का आदर किया जाय, तो आपको अवश्य मनुष्य द्वारा मनुष्य के ऊपर शासन किये जाने के सिद्धांत का विरोध करना होगा, चाहे उसका रूप कुछ भी क्यों न हो; और आपको बाध्य होकर अराजकता के सिद्धांतों को ग्रहण करना पड़ेगा, जिन्हें अबतक आपने ठुकराया है। फिर आपको हमारे साथ समाज के उन स्वरूपों का सन्धान करना पड़ेगा, जिनसे वह आदर्श चरितार्थ हो सके, और उन सब हिंसात्मक कार्यों का अन्त हो जाय, जिनके कारण आपका क्रोध उत्तेजित हो उठता है।

: ५ :

जेल और उसका नैतिक प्रभाव

संसार में आर्थिक समस्या और राज-समस्या के बाद जो सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, वह है समाज-विरोधी कार्यों का नियंत्रण। न्याय करने का सिद्धांत ही सदा अधिकारों और सुविधाओं को उत्पन्न करनेवाला रहा है, क्योंकि उसकी बुनियाद ही संगठित अधिकारों के ठोस पत्थर पर स्थित है, इसलिए जो लोग समाज के विरुद्ध कार्य करते हैं, उनके साथ क्या करना चाहिए? यह एक ऐसी समस्या है, जिसके अन्तर्गत राज्य और शासन की संपूर्ण महान् समस्या छिपी हुई है।

अब वह समय आ गया है, जब यह प्रश्न उठाया जाय कि क्या मृत्यु-दंड देना या जेलखाने की सजा देना उचित है? सजा देने के दो उद्देश्य होते हैं—एक तो समाज-विरोधी कार्यों का रोकना, दूसरे अपराधी का सुधार करना। क्या वर्त्तमान दंड-पद्धति से इन दोनों उद्देश्यों की सिद्धि होती है?

ये प्रश्न बड़े गहन हैं। इन प्रश्नों के उत्तर पर न केवल सहस्रों अभागे

कैदियों का सुख-दुःख और उन अभागों के बेबस स्त्री-बच्चों का ही सुख-दुःख निर्भर करता है, बल्कि समस्त मानव-समाज का सुख-दुःख भी इसी उत्तर पर निर्भर है। किसी एक व्यक्ति के साथ जो कुछ अन्याय किया जाता है, अन्त में संपूर्ण मानव-समाज को उसका अनुभव करना पड़ता है।

मुझे फ्रांस में दो जेलखानों और रूस में कई जेलखानों की जानकारी प्राप्त करने का मौका मिला है। जीवन की अनेक परिस्थितियों के चक्कर में पड़कर मुझे दंड-विधान की संपूर्ण समस्या का अध्ययन करना पड़ा है। अतः में इसे अपना कर्त्तव्य समझता हूं कि मैं खुल्लम-खुल्ला संसार को यह बता दूं कि ये जेलखाने क्या हैं? यह जरूरी मालूम पड़ता है कि मैं उनके संबंध में अपने निरीक्षण और उन निरीक्षणों के परिणाम संसार के सामने प्रकट कर दूं।

जो व्यक्ति एक बार जेल हो आता है, वह फिर लौटकर पुनः वहीं पहुँच जाता है। यह बात अवश्यंभावी है। सरकारी आंकड़े इसे सिद्ध करते हैं। फ्रांस के फौजदारी शासन की वार्षिक रिपोर्ट उठा कर देख लीजिये। आपको मालूम हो जायगा कि जूरी द्वारा सजा पाये हुए व्यक्तियों में से आधे और पुलिस अदालत में मामूली जुर्मों के लिए सजा पानेवाले व्यक्तियों में $\frac{3}{5}$ लोगों को उनके अपराध की शिक्षा जेलखाने में मिली है।

जिन लोगों पर खून के मुकदमे चलते हैं, उनमें से आधे तथा चोरी के मुजरिमों में दो-तिहाई, दूसरी बार के अपराधी होते हैं। केन्द्रीय जेलों से—जो कैदियों को सुधार करनेवाली संस्थाएं समझी जाती हैं—जो कैदी रिहाई पाते हैं, उनमें से एक-तिहाई छूटने के बारह महीने के भीतर ही फिर लौटकर जेल पहुँच जाते हैं।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है, वह यह कि एक कैदी जब दूसरी बार जेल पहुँचता है, तो उसका अपराध उसके पहले अपराध से अधिक गुरु-तर होता है। यदि पहले उसे मामूली उठाईगीरी के लिए सजा मिलती है, तो दूसरी बार वह अधिक दुःस्साहसपूर्ण चोरी के लिए पकड़ा जाता है। यदि पहली बार वह साधारण मार-पीट के लिए जेल जाता है, तो दूसरी बार वह खून के

अपराध में हाजिर किया जाता है। अपराध-तत्त्व के समस्त लेखक इस विषय पर सहमत हैं। यूरोप में पुराने अपराधियों की समस्या एक महत्त्व-पूर्ण समस्या बन गई है। आप जानते हैं कि फ्रांस इस समस्या को कैसे हल करता है ? वह उन्हें पश्चिमी अफ्रीका के केअन नामक कालेपानी में भेजकर उनका एकदम अस्तित्व मिटा देता है। केअन में ये कैदी बुखार से पीड़ित होकर मर जाते हैं। जहाज-यात्रा में ही कितनों की जीवन-यात्रा समाप्त हो जाती है।

आजतक जेलखानों में जितने सुधार किये गए हैं, भिन्न-भिन्न जल-प्रणालियों के जितने प्रयोग किये गए हैं, उन सबके होते हुए भी उनका फल एक ही निकला है। आप लोग दंड देने का चाहे जो तरीका अख्तियार करें, मगर मौजूदा कानूनों के खिलाफ जुर्मों की संख्या न तो घटती है और न बढ़ती है। रूस में कोड़ों की मार की सजा और इटली में मृत्यु का दंड उठा दिया गया, मगर उन दोनों स्थानों में हत्याओं की संख्या ज्यों-की-त्यों बनी रही। जजों की निर्दयता बढ़े या घटे, दण्ड-विधान में जो चाहे परिवर्त्तन हो, मगर जुर्म कहे जानेवाले कामों की संख्या एक-सी बनी रहती है। उसमें जो परिवर्त्तन होता है, वह कुछ अन्य कारणों से होता है, जिनका मैं आगे चलकर वर्णन करूँगा। दूसरी ओर जेलखाने के शासन में चाहे जितने परिवर्त्तन किये जायं, मगर दूसरी बार जुर्म करनेवालों की संख्या भी नहीं घटती। वह तो अवश्यंभावी है। यह जरूर ही होकर रहेगी। कारण यह है कि जिन गुणों के द्वारा मनुष्य समाज में रहने के योग्य बनता है, जेलखाना उन समस्त गुणों को एकदम नष्ट कर देता है। कैदखाना मनुष्य को एक ऐसा जीव बना देता है, जो अपने जीवन के अन्तिम काल तक बारम्बार इसी जीवित कब्रिस्तान में लौटकर पहुँच जाता है। 'दण्ड-विषयक-प्रणाली को सुधारने के लिए क्या करना चाहिए ?' इस प्रश्न का केवल एक ही जवाब हो सकता है, और वह है—'कुछ नहीं।' कैदखाने में कुछ सुधार हो ही नहीं सकता। केवल कुछ महत्त्वहीन सुधारों को छोड़कर जेलखानों की कुछ भी उन्नति नहीं की जा सकती। उसके लिए तो केवल एक ही उपाय है—वह है जेलखानों को नष्ट कर देना।

मैं तो यह प्रस्ताव करूँगा कि प्रत्येक जेलखाने का इंचार्ज एक-एक पेस्टालोज्ज़ी मुकर्रर कर दिया जाय। पेस्टालोज्ज़ी एक मशहूर स्विस-शिक्षक था। वह घर से निकले हुए आवारा लड़कों को लेकर पालता था और उन्हें शिक्षा देकर उत्तम नागरिक बना देता था। मैं तो यह भी कहूँगा कि आजकल के जेल के पहरेदारों में जो भूतपूर्व सैनिक और पुलिसमैन हुआ करते हैं उनको अलग करके उनके स्थान में साठ पेस्टालोज्ज़ी नियत कर दिये जायं। यह महान् स्विस-शिक्षक तो निश्चय ही जेल का पहरेदार बनने से इन्कार कर देगा, क्योंकि जेलों का आधारभूत सिद्धांत ही गलत है। वह लोगों की स्वतंत्रता का अपहरण कर लेता है। जबतक आप लोगों की स्वतंत्रता हरण करते रहेंगे, तबतक आप उनका सुधार नहीं कर सकते। आप केवल 'पुराने पापी' अपराधियों की ही सृष्टि करते रहेंगे। मैं यह बात आगे सिद्ध करूँगा।

पहली बात तो यही ले लीजिये कि कोई भी अपराधी यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि उसे जो सजा मिली है, वह न्यायोचित है। केवल यह बात ही हमारी न्याय-प्रणाली को कलंकित सिद्ध करती है। जेल में किसी कैदी या किसी बड़े भारी जुआचोर से बात कीजिये। वह कहेगा—"हम छोटे-छोटे जुआचोर पकड़कर यहां भेज दिये जाते हैं, परन्तु बड़े-बड़े जुआचोर मजे में स्वतंत्र घूमते हैं, और साधारण जनता उनकी इज्जत करती है।" आप जानते हैं कि बहुत-सी ऐसी बड़ी-बड़ी कंपनियां मौजूद हैं, जो केवल गरीबों का आखिरी पैसा लूटने के लिए ही बनी हैं, और जिनके संस्थापकगण कानून के फंदे से बचते हुए इन गरीबों के पैसों को लूटकर अलग हो जाते हैं। आप ऐसी कम्पनियों के लिए क्या जवाब देंगे? अंश (शेयर) निकालनेवाली अनेकों कम्पनियों, उनके झूठे नोटिसों और भारी जुआचोरियों की बातें हम सब जानते हैं। ऐसी दशा में हम लोग कैदी को इसके सिवा क्या जवाब दे सकते हैं कि वह सच कहता है?

अथवा एक दूसरे आदमी को ले लीजिये। उसने पैसों की एक गुल्लक चुराई है। वह कहता है—"मैं काफी चालाक न था, बस इतनी ही बात थी।" आप उसके इस कथन का क्या जवाब देंगे? क्योंकि आप जानते हैं कि अनेकों

बड़ी-बड़ी जगहों में कैसे-कैसे कांड हुआ करते हैं। बड़े-बड़े भयंकर कांडों का भंडाफोड़ होने पर आप देखते हैं कि बड़े-बड़े अपराधी भी अक्सर 'निरपराध' कहकर छूट जाते हैं। हम लोगों ने कितनी बार कैदियों को यह कहते सुना होगा—"बड़े चोर तो वे हैं, जिन्होंने हम लोगों को यहां कैद कर रखा है, हम लोग तो छोटे चोर हैं।" जब आप यह जानते हैं कि बड़े-बड़े व्यापारों और उच्च आर्थिक मामलों में बड़ी-बड़ी जुआ-चोरियां हुआ करती हैं; जब आप यह जानते हैं कि धनी समाज का केवल-मात्र आधार प्रत्येक संभव उपाय से 'हाय पैसा, हाय पैसा' चिल्लाना है; तब भला बताइये कि आप कैदियों के उपर्युक्त कथन में मीन-मेख कैसे कर सकते हैं? संसार में ईमानदार (धनिकों की परिभाषा के अनुसार ईमानदार) और अपराधी लोग रोज़ ही हजारों संशयात्मक व्यापार किया करते हैं। यदि आप उन सब व्यापारों की परीक्षा करेंगे, तो आपको विश्वास हो जायगा कि जेलखाने अपराधियों के लिए नहीं हैं, बल्कि वे मूर्खों के लिए हैं। चालाक अपराधी सदा कानून की गिरफ्त के बाहर रहकर मजा किया करते हैं, मगर बेचारे कम चालाक कानून के पंजे में फँसकर जेल की हवा खा जाते हैं। यह तो हुई जेल के बाहर की दशा। अब रही जेल के भीतर की दशा, सो उसके लिए अधिक कहना फिजूल है। हम लोग अच्छी तरह जानते हैं कि वह कैसी है। चाहे खाने के संबंध में हो, चाहे रियायतों के संबंध में हो, अमरीका से एशिया तक आपको कैदी वही एक बात कहते हुए मिलेंगे—"सबसे बड़े चोट्टे हम नहीं हैं, बल्कि वे हैं, जिन्होंने हमें यहां कैद कर रखा है।"

बेकारी के दुष्परिणामों को सभी जानते हैं। काम से मनुष्य को आराम मिलता है। लेकिन काम-काम भी तो भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। एक तो स्वतंत्र आदमी का काम होता है, जिसे वह अपने व्यक्तित्व का अंश समझता है और दूसरा एक गुलाम का काम होता है, जो उसकी आत्मा का पतन करता है। कैदी लोग जो काम करते हैं, वह अनिच्छापूर्वक किया जाता है। वह केवल और अधिक दंड के डर से किया जाता है। वे लोग जो काम करते हैं, उसमें उनके मस्तिष्क की शक्ति का उपयोग नहीं होता, इसलिए उस काम में उन्हें

कोई आकर्षण नहीं दिखाई देता। इसके अलावा उनकी मेहनत की जो मजदूरी उन्हें मिलती है, वह भी इतनी कम, कि जिससे उनका काम भी उन्हें एक प्रकार का दंड दिखलाई देता है।

मेरे अराजकवादी (अनार्किस्ट) मित्र क्लैरवू के जेलखाने में सीप के बटन बनाते थे। उन्हें दस घंटे की कठिन मेहनत की मजदूरी बारह सेंट मिलती थी। इन बारह सेंटों में से भी चार सेंट सरकार अपने पास जमा कर लेती थी। इस कठिन मेहनत और तुच्छ वेतन को देखकर आप उन अभागे कैदियों की निराशा का सहज ही अनुमान कर सकते हैं। हफ्ते भर के हाड़-तोड़ परिश्रम के बाद जब उन्हें ५६ सेंट वेतन मिलता है, तो उनका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि "वे लोग, जिन्होंने हमें यहां--जेल में--बन्द कर रखा है, असली चोट्टे हैं, हम नहीं।"

जेल के कैदी का बाहरी संसार के समस्त जीवन से संबंध टूट जाता है। ऐसी दशा में उसमें सर्वसाधारण की भलाई के निमित्त कार्य करने की प्रेरणा कैसे उत्पन्न हो सकती है? जिन लोगों ने जेलखाने की पद्धति बनाई है उन्होंने अपनी निर्दयता को सुन्दर रूप देने के लिए कैदी का समाज से सब संपर्क तोड़ दिया है। इंग्लैण्ड में कैदी के स्त्री-बच्चे उसे तीन मास में एक बार देख सकते हैं। उन्हें जिस प्रकार पत्र लिखने की इजाजत है, वह एकदम बेहूदा है। समय-समय पर अधिकारी वर्ग मानव-स्वभाव की भी उपेक्षा करके कैदियों को चिट्ठी की जगह केवल एक छपे हुए फार्म पर ही दस्तखत करने की इजाजत देते हैं। किसी कैदी पर यदि कोई सबसे उत्तम प्रभाव पड़ सकता है, यदि कोई चीज उसके जीवन के अन्धकार में प्रकाश की किरण ला सकती है, तो वह है जीवन का कोमल अंश, वह उसके सगे-संबंधियों का प्रेम है, और हमारी मौजूदा जेल-प्रणाली में इसीको बाकायदा रोका जाता है।

कैदी का जीवन शुष्क जीवन है। उसका स्रोत सदा एक-सा बहा करता है। उसमें न तो उत्साह और उच्छ्वास होता है, और न भाव-तरंग। उसके हृदय की समस्त कोमल वृत्तियां शीघ्र ही बेकार हो जाती हैं। दक्ष कारीगर, जो अपने काम से बड़ा प्रेम रखते थे, उन्हें जेल में रहकर अपने काम में कोई

मज़ा नहीं आता। उनकी शारीरिक शक्ति भी धीरे-धीरे गायब हो जाती है।

उनके दिमाग में किसी बात पर लगातार ध्यान देने की शक्ति नहीं रह जाती। जेल में रहकर कैदी का विचार उतनी तेजी से नहीं दौड़ता—कम-से-कम वह अब किसी चीज पर देर तक जम नहीं सकता। उनके विचारों की गंभीरता जाती रहती है। मेरी समझ में स्नायुविक शक्ति के ह्रास का सबसे बड़ा कारण विभिन्नता की कमी है। साधारण जीवन में हमारे दिमाग पर प्रतिदिन हजारों प्रकार की आवाजों और रंगों की छाप पड़ा करती है, हजारों छोटी-छोटी बातें हमारी चेतना पर प्रभाव डालकर मस्तिष्क की शक्ति को बल प्रदान करती रहती हैं, परन्तु कैदी के दिमाग में आघात करने के लिए ये कुछ भी नहीं होतीं। उसके हृदय पर छाप डालनेवाली बातें दो-चार ही होती है, जो सदा एक ही-सी हुआ करती हैं।

जेलों में अधःपतन का एक और भी कारण है। हमारे माने हुए नैतिक नियमों के उल्लंघन का एक प्रधान कारण कहा जा सकता है—इच्छा-शक्ति की कमी। जेल के अधिवासियों में अधिकांश वे लोग हैं, जिनमें इतनी दृढ़ इच्छा-शक्ति नहीं थी कि वे अपने लोभ को संवरण कर सकते, अथवा जो अपने क्षणिक आवेश को रोक सकते। जेलखानों में, मठों (कॉनवेंट) के समान मनुष्य की इच्छा-शक्ति को मार देने का प्रत्येक प्रयत्न किया जाता है। उसे किसी भी बात में निर्वाचन की स्वतंत्रता नहीं है। जिन अवसरों पर वह अपनी इच्छा-शक्ति का उपयोग कर सकता है, वे बहुत कम और बहुत क्षणिक होते हैं। उसका समस्त जीवन पहले ही से कानून-कायदों से जकड़ा होता है। उसे उनकी धार के साथ बहना पड़ता है। उसे कठोर दंड के भय से आज्ञा का पालन करना पड़ता है।

ऐसी दशा में जेल जाने के पूर्व कैदी में थोड़ी-बहुत जो कुछ इच्छा-शक्ति होती है, वहां पहुँचकर वह भी गायब हो जाती है। जब वह जेल की दीवारों से छूटकर स्वतंत्र होगा और जीवन के अनेक प्रलोभन जादू की भांति उसके सामने आकर उपस्थित होंगे, तब भला उसमें वह शक्ति कहां से आयगी जो उसके उन प्रलोभनों को रोक सके? यदि कोई व्यक्ति वर्षों तक अपने

नियंत्रण करनेवालों के हाथ का खिलौना रहा है और उसकी तमाम अन्तः-शक्ति नष्ट कर दी गई है, तो किसी आवेशयुक्त झगड़े में वह शक्ति कहां से आयगी जो उसे रोक सके ? मेरी समझ में केवल यही बात हमारे संपूर्ण दण्ड-विधान का—जो कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अपहरण पर स्थित है—सबसे भयंकर कलंक है।

सभी जेलों का एक ही सार है—व्यक्तिगत इच्छा को दबा देना। इसका आरम्भ कैसे हुआ, यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। इसका उत्थान अधिकारियों की इस इच्छा से हुआ कि कम-से-कम पहरेदारों के द्वारा अधिक-से-अधिक कैदियों की देख-भाल की जा सके। जेल के अधिकारियों का आदर्श यह है कि केवल एक पहरेदार के द्वारा बिजली का बटन दबाते ही हजारों चलती-फिरती मशीनें उठें, काम करें, खायें-पीयें और सो रहें। फिर बजट में भी तो किफायत होनी ही चाहिए, मगर इस बात पर कोई ध्यान नहीं देता कि जेल से निकलने पर ये लोग, जो मशीन बना डाले जाते हैं, उस ढंग के मनुष्य नहीं रह जाते, जैसे समाज चाहता है। जब कोई कैदी जेल से छूटकर आता है, तो पुराने साथी उसकी राह देखते हुए मिलते हैं। वे उसे बन्धुभाव से अपनाते हैं और वह पुनः उसी धारा में पड़ जाता है जिसमें बह-कर पहली बार जेल पहुँचा था। छूटे हुए कैदियों की रक्षा के लिए जो संस्थाएं होती हैं, वे कुछ नहीं कर सकतीं।

कैदी के पुराने साथी उसके लौटने पर उसका जैसा स्वागत करते हैं और रक्षण-संस्थाओं के उदारहृदय लोग उसका जैसा स्वागत करते हैं—इन दोनों में भी बड़ा भारी अन्तर है। भला, बताइये कि इन दोनों में से कौन उसे अपने घर पर निमंत्रित करके कहेगा—"लो, यह तुम्हारे रहने के लिए कमरा है और यह है काम। तुम हमारे साथ एक मेज पर बैठो और कुटुम्बी की तरह रहो।" जेल से छूटा हुआ व्यक्ति मित्रता से बढ़ाये हुए हाथ को खोजता आता है, मगर समाज—जिसने उसे भरसक अपना शत्रु बनाया है और जिसने उसमें जेल के तमाम दोष उत्पन्न कर दिये हैं—उसे दुत्कार देता है। वह उसे सजा देकर पुनः अपराधी बना देता है।

अच्छे वस्त्रों का जो प्रभाव पड़ता है, उसे सब जानते हैं। यदि किसी जानवर को कोई चीज हास्यास्पद बना देती है, तो उसे भी अपने सजातीयों के सामने उपस्थित होने में लज्जा आती है। यदि किसी बिल्ली को कोई काला और पीला रंग दे, तो वह अन्य बिल्लियों के साथ मिलने-जुलने का साहस न करेगी, लेकिन मनुष्य जिन कैदियों को सुधारने का ढोंग करता है, उन्हें पागलों के-से कपड़े पहनने को देता है।

अपने संपूर्ण बन्दी-जीवन में, कैदियों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाता है जिसके प्रति उनके मन में घृणा होती है। जिन आदरसूचक बातों के मनुष्य-मात्र अधिकारी हैं, उनमें से एक भी कैदी के प्रति प्रदर्शित नहीं की जाती। वह तो एक अदद के––एक नम्बर के––समान है। उसके साथ नम्बर पड़ी हुई चीज जैसा व्यवहार किया जाता है। मनुष्य की सबसे महान् मानवी इच्छा है किसी दूसरे मनुष्य से बात करना। यदि कैदी अपनी इस इच्छा को पूरी करता है, तो वह जेल के नियमों को भंग करता है। जेल जाने के पहले चाहे उसने कभी झूठ न बोला हो, या कभी धोखा न दिया हो, पर जेल में आकर वह तना अधिक झूठ बोलना और धोखा देना सीख जाता है कि वह उसके स्वभाव के अंश हो जाते हैं।

जो लोग इस झूठ और दगाबाजी के लिए तैयार नहीं होते उनके ऊपर बुरी बीतती है। यदि कोई व्यक्ति खाना-तलाशी को अपमानजनक समझता है, यदि किसी आदमी को जेल का भोजन बेस्वाद लगता है, यदि उसे पहरेदारों का तम्बाकू चुराकर बेचना बुरा मालूम होता है, यदि वह अपनी रोटी अपने साथी को बांट देता है, यदि उसमें अभी इतना आत्म-सम्मान बाकी है कि उसे अपमान पर क्रोध आ जाय, यदि उसमें तनी ईमानदारी है कि वह नीचतापूर्ण ड्यंत्रों के प्रति विद्रोह कर सके, तो उसके लिए जेलखाना नरक बन जाता है। वह या तो काल-कोठरी में सड़ने के लिए भेज दिया जायगा, अन्यथा उसपर उसकी शक्ति से अधिक काम लाद दिया जायगा। जेल के नियमों की पाबन्दी में जरा-सी भी भूल होने से उसे कड़ी-से-कड़ी सजा दी जायगी और एक सजा के बाद दूसरी सजा मिलती जायगी। अक्सर अत्या-

चारों के मारे वह पागल हो जाता है। यदि वह जीता-जागता जेलखाने के बाहर निकल आवे, तो समझ लीजिये कि वह बड़ा किस्मतवर है।

अखबारों में यह लिख देना कि जेलखाने के पहरेदारों पर कड़ी निगाह रखनी चाहिए और जेलर लोग भले आदमियों में से चुने जाने चाहिए--यह सब बहुत आसान है। आदर्श शासन-पद्धतियों के काल्पनिक विधान बनाने से बढ़कर आसान कोई बात नहीं है। लेकिन आदमी आदमी ही रहेगा--चाहे पहरेदार हो या कैदी। जब इन पहरेदारों को अपना सम्पूर्ण जीवन इस कृत्रिम परिस्थिति में बिताने के लिए बाध्य होना पड़ता है, तो उन्हें उसका फल भी भुगतना पड़ता है। केवल मठों को छोड़कर और कहीं भी ओछे षड्यन्त्रों की ऐसी अधिकता नहीं रहती, जैसी जेलों में। संसार में और कहीं भी कलंक की बातों और झूठे किस्सों का इतना विकास नहीं होता, जितना जेल के पहरेदारों में।

आप यदि किसी व्यक्ति को कोई शासन-अधिकार दें, तो वह अधिकार उसे पतित किये बिना नहीं रह सकता। वह व्यक्ति उस अधिकार का दुरुपयोग करेगा। यदि उसका कार्य-क्षेत्र संकुचित हुआ तो वह अपने अधिकार का दुरुपयोग करने में और भी कुण्ठित होगा और वह अपनी शक्ति को और भी अधिक समझेगा। पहरेदारों को अपने दुश्मनों के बीच में रहना पड़ता है, अतः वे दयालुता के आदर्श नहीं बन सकते। कैदियों के गुट के विरोध में जेलरों का गुट हुआ करता है। जेल की संस्था ही ऐसी है जो उन्हें ओछे स्वभाव का नीच अत्याचारी बना देती है। यदि आप उनके स्थान में पेस्टोलोज्ज़ी को भी नियत कर दें, तो वह भी थोड़े दिन बाद जेल का पहरेदार ही बन जायगा।

कैदी के मन में समाज के प्रति विद्वेष के भाव शीघ्र ही जाग्रत हो जाते हैं। वह उन लोगों से, जो उसे पीड़ित करते हैं, घृणा करने का आदी हो जाता है। वह संसार को दो भागों में विभाजित कर देता है। एक में वह स्वयं अपने को और अपने साथियों को समझता है और दूसरे में वह तमाम बाहरी दुनिया को समझता है। जेल के पहरेदारों और उसके अफसरों को वह दूसरे भाग का

प्रतिनिधि समझता है। संसार के समस्त मनुष्यों के खिलाफ़—जो कोई भी जेल का कपड़ा नहीं पहनता उसके खिलाफ़—कैदियों का एक गुट बन जाता है। वह समझता है कि वे सब उसके शत्रु हैं, और उन शत्रुओं को धोका देने के लिए जो कुछ भी किया जाय, उचित है।

जैसे-ही कैदी जेल से छूटकर आता है, वैसे-ही वह अपने उपर्युक्त सिद्धान्त को कार्य में परिणत करने लगता है। पहले तो संभवतः उसने बिना समझे-बूझे अपराध किया था, मगर अब अपराध करना उसका सिद्धान्त बन जाता है। प्रसिद्ध लेखक ज़ोला के शब्दों में उसकी एक यही धारणा होती है कि "ये ईमानदार आदमी कैसे बदमाश हैं!"

यदि कैदियों पर पड़नेवाले जेल के समस्त प्रभावों पर हम विचार करें तो हमें यह निश्चय हो जायगा कि वे मनुष्य को अधिकाधिक सामाजिक जीवन के अयोग्य बनाते हैं। दूसरी ओर इन प्रभावों में से कोई भी ऐसा नहीं है जो उसकी नैतिक वृत्तियों को ऊपर उठा सके, या उसके जीवन में उच्च-भाव भर सके। इसके अलावा हम यह भी देख चुके हैं कि ये प्रभाव उसको अन्य अपराध करने से भी नहीं रोक सकते, इसलिए जिन उद्देश्यों के लिए ये उपाय बनाये गए हैं, उनमें से वे एक को भी पूरा नहीं करते।

इसलिए अब यह सवाल उठाना चाहिए कि "जो लोग कानून भंग करते हैं, उनके साथ क्या करना चाहिए?" कानून से मेरा मतलब किताबी कानूनों से नहीं है। वे तो एक दुःखदायी—अतीव दुःखदायी भूतकाल की कष्टप्रद विरासत हैं। कानून से मेरा मतलब उन नैतिक सिद्धान्तों से है, जो हम लोगों में से प्रत्येक के हृदय पर अंकित हैं।

एक समय था जब वैद्य या डाक्टरी का उद्देश्य केवल दवा देना-मात्र था। वैद्यों ने अंधेरे में टटोल-टटोलकर अपने अनुभव से कुछ औषधियां जान ली थीं। वे केवल उन्हींको देना जानते थे, मगर आजकल वैद्यों का दृष्टिकोण एकदम बदल गया है। आजकल उनका उद्देश्य केवल रोगों को अच्छा करना ही नहीं है, बल्कि रोगों को होने से रोकना है। आजकल सफाई ही सबसे अच्छी दवा समझी जाती है।

हम लोग अबतक जिसे अपराध कहते हैं, हमारी संतान उसे आगे चलकर 'सामाजिक व्याधि' के नाम से पुकारेगी। हमें इस सामाजिक व्याधि के लिए भी वही करना पड़ेगा, जो हम शारीरिक व्याधि के लिए करते रहे हैं। इस रोग को होने से रोकना ही उसका सर्वश्रेष्ठ इलाज है। समस्त आधुनिक चिन्ताशील व्यक्ति, जिन्होंने 'अपराधों' पर विचार किया है, इसी परिणाम पर पहुंचे हैं। इन व्यक्तियों के प्रकाशित किये हुए समस्त ग्रन्थों में इस बात का पूरा मसाला मौजूद है कि हम लोगों को उन लोगों के प्रति—जिन्हें समाज ने अबतक बड़ी कायरता से पंगु बना रखा है, कैद कर रखा है या फ़ांसी पर लटका दिया है—एक नवीन भाव ग्रहण करना चाहिए।

समाज-विरोधी कार्यों के, जो अपराध के नाम से पुकारे जाते हैं, होने के कारण तीन प्रधान श्रेणियों के होते हैं। ये श्रेणियां सामाजिक, शरीर-धर्म-सम्बन्धी और भौतिक हैं। इनमें से मैं पहले अन्तिम कारण पर विचार करूंगा। यद्यपि इन कारणों का ज्ञान लोगों को कम है, लेकिन उनके प्रभाव में कोई सन्देह नहीं है।

जब हमारा कोई मित्र चिट्ठी लिखकर उसपर पता लिखे बिना ही उसे डाकखाने में डाल देता है, तो हम कहते हैं, यह एक दुर्घटना है। यह तो ऐसी बात हुई जिसका पहले कभी खयाल ही नहीं किया था। मगर असली बात यह है कि मानव-समाज में ये दुर्घटनाएं, ये अप्रत्याशित बातें, वैसे ही नियमित रूप में हुआ करती हैं, जैसे वे घटनाएं, जिनका बहुत पहले से सोच-विचार किया जाता है। डाक में छोड़े जानेवाले बिना पते लिखे हुए पत्रों की संख्या प्रतिवर्ष नियमित रूप से एक-सी रहती है, जिसे देखकर आश्चर्य होगा। उनकी संख्या में प्रतिवर्ष कुछ थोड़ी-बहुत घटी-बढ़ी हो सकती है, लेकिन यह घटा-बढ़ी बहुत ही थोड़ी होती है। इसका कारण लोगों का भुलक्कड़पन है। यद्यपि यह भुलक्कड़पन एक अनिश्चित-सी बात जान पड़ती है, लेकिन दरअसल वह भी ऐसे कड़े नियमों के अधीन है ही जैसे ग्रहों की चाल।

यही बात प्रतिवर्ष होनेवाली हत्याओं के लिए भी लागू है। पिछले वर्ष के आंकड़ों को लेकर कोई भी व्यक्ति यह भविष्यवाणी कर सकता है कि

यूरोप के फलां देश में इस वर्ष लगभग इतनी हत्याएं होंगी। यह भविष्य-वाणी आश्चर्यजनक रूप से ठीक होती है।

हमारे कर्मों पर भौतिक कारणों का क्या प्रभाव पड़ता है, इसका पूर्ण विश्लेषण अभी तक नहीं हुआ है, मगर यह मालूम हो गया है कि गर्मी में मार-पीट आदि के मामले अधिक होते हैं और जाड़ों में सम्पत्ति के विरुद्ध अप-राधों की संख्या अधिक रहती है। प्रोफेसर इनरिको फेरी ने ग्राफ-पेपर पर अपराधों की संख्या की वक्ररेखा खींची है। यदि आप उस रेखा का ताप (टेम्परेचर) की वक्ररेखा के साथ मिलान करें, तो यह साफ दिखाई दे जायगा कि अपराधों की वक्ररेखा ताप की वक्ररेखा के साथ उठती-गिरती है। तब आपको यह मालूम हो जायेगा कि मनुष्य कितना अधिक मशीन के समान है। मनुष्य अपनी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति का गर्व किया करता है। पर वह ताप की घटा-बढ़ी, आंधी-पानी तथा अन्य भौतिक कारणों पर कितना निर्भर करती है! जब ऋतु अच्छी हो, फसल भी भरपूर हुई हो और गांववाले मजे में हों, तो अपने झगड़ों को मिटाने के लिए वे छुरी की शरण कम लेंगे, परन्तु जब ऋतु अच्छी न हो और फसल खराब हो, तो उस समय गांववाले चिन्तित होते हैं और झगड़ों का रूप अधिक भयंकर हो जाता है।

शरीर-धर्म-सम्बन्धी कारण—जो मस्तिष्क की बनावट, पाचन-शक्ति और स्नायु-प्रणाली पर निर्भर करते हैं—निश्चय ही भौतिक कारणों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पैतृक शक्तियों और शारीरिक संगठन का हमारे कर्मों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस बात की बड़ी खोजपूर्ण जांच हो चुकी है, इसलिए हम इनके महत्त्व का काफी सही अन्दाज लगा सकते हैं।

सेसारे लम्ब्रोसो का कथन है कि जेल-अधिवासियों में अधिकांश के मस्तिष्क की बनावट में कुछ दोष होता है। इस बात को हम तभी स्वीकार कर सकते हैं, जब हम जेल में मरनेवालों के दिमागों और जेल के बाहर की दरिद्रता में बुरी तरह जीवन व्यतीत करके मरनेवालों के दिमागों की तुलना करें। उसने यह दिखलाया है कि निर्दयतापूर्ण हत्या करनेवाले व्यक्ति वे होते हैं जिनके दिमागों में कोई बड़ा दोष होता है। उसके इस कथन से हम सहमत

हैं, क्योंकि यह बात निरीक्षण द्वारा सिद्ध हो चुकी है। मगर जब लम्ब्रोसो यह कहता है कि समाज को अधिकार है कि वह इन ेषपूर्ण मस्तिष्कवालों के विरुद्ध कार्रवाई करे, तब हम उसका कथन मानने को तैयार नहीं हैं। समाज को इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि वह इन रोगी मस्तिष्कवालों को नष्ट करदे। हम मानते हैं कि जो लोग ये क्रूर अपराध करते हैं, वे करीब-करीब दुर्बुद्धि——सिड़ी-से——होते हैं। मगर सभी सिड़ी तो खूनी नहीं होते।

राजमहलों से लेकर पागलखानों तक अनेकों कुटुम्बों में आपको सिड़ी लोग मिलेंगे जिनमें वे सब लक्षण मौजद हैं, जो लम्ब्रोसो के अनुसार 'अपराधी सनकियों' में विशेषता से पाये जाते हैं। उनमें और फांसी पर चढ़नेवालों में यदि अन्तर है, तो केवल उस वातावरण का, जिसमें वे रहते हैं। दिमागी बीमारियां निश्चय ही हत्या करने की प्रवृत्ति को उकसा सकती हैं, मगर यह अवश्यम्भावी नहीं है कि वे ऐसा करें ही। प्रत्येक बात उन परिस्थितियों पर निर्भर करती है, जिनमें मानसिक रोगी को रहना पड़ता है।

इस सम्बन्ध में जितने तथ्य एकत्र हो चुके हैं, उनसे प्रत्येक समझदार आदमी यह आसानी से देख सकता है कि जिन लोगों के साथ अपराधी की भांति व्यवहार होता है, उनमें से अधिकांश किसी-न-किसी रोग से पीड़ित हैं। इसलिए जरूरत इस बात की है कि होशियारी से उनका रोग दूर करके उन्हें अच्छा करने की कोशिश की जाय, न कि उन्हें जेलखानों में——जहां उनका रोग और भी बढ़ जाता है——ठेल दिया जाय।

अगर हम लोग स्वयं अपने ही विचारों का कड़ा विश्लेषण करें, तो हम देखेंगे कि समय-समय पर हमारे दिमागों में ऐसे अनेक विचार बिजली की तेजी से दौड़ जाया करते हैं जिनमें दुष्कर्मों की नींव डालनेवाले कीटाणु छिपे रहते हैं। साधारणतः हम लोग इन विचारों को दुतकार देते हैं, लेकिन यदि हम ऐसी परिस्थिति में हों, जिनमें इन विचारों को अनुकूल प्रोत्साहन मिले, अथवा यदि हमारे अन्य भाव—जैसे प्रेम, दया, भ्रातृत्व-भाव आदि—इन क्रूर विचारों का प्रतिकार न करें, तो ये विचार भी हमें अन्त में अपराधों में ला घसीटेंगे। संक्षेप में यही कहना चाहिए कि लोगों को जेल पहुँचाने में

शरीर-धर्म-संबंधी कारणों का महत्त्वपूर्ण हाथ है, परन्तु यदि ठीक तौर से देखिये तो मालूम होगा कि ये कारण अपराधों के कारण नहीं हैं।

मस्तिष्क के इन विकारों की शुरूआत हम सबमें पाई जाती है। हममें से अधिकांश को इस प्रकार का कोई-न-कोई रोग होता है, मगर जबतक बाहरी परिस्थितियां हमारे इन रोगों को बुराई की ओर नहीं फेर देतीं, तबतक हम लोग जुर्म नहीं करते।

जब भौतिक कारण हमारे कर्मों पर इतना जोरदार प्रभाव डालते हैं, और जब शरीर-धर्म संबंधी कारण अक्सर हमारे समाज-विरोधी कर्मों के कारण हुआ करते हैं, तब यह बात सहज में ही समझी जा सकती है कि हमारे अपराधों के संबंध में सामाजिक कारणों का कितना शक्तिशाली प्रभाव होगा। हमारे समय के सबसे अधिक दूरदर्शी और बुद्धि-संपन्न मस्तिष्कवाले महानुभाव यह घोषित करते हैं कि प्रत्येक समाज-विरोधी अपराध के लिए संपूर्ण समाज दोषी है। यदि हमारे वीरों और प्रतिभाशाली व्यक्तियों की प्रतिभा में हमारा हिस्सा है, तो हमारे खूनियों के दुष्कर्मों में भी हमारा भाग है। हमारे अपराधी जैसे हैं, उन्हें हम लोगों ही ने वैसा बनाया है। साल-के-साल सहस्रों बालक हमारे बड़े शहरों की नैतिक तथा सांसारिक गन्दगी में पलते हैं। उनका पालन-पोषण उन लोगों के बीच में होता है जिन्हें रोज कुआं खोदकर पानी पीना पड़ता है, और इसी कारण उनका नैतिक पतन हो चुका है। इन बच्चों ने कभी यह नहीं जाना कि अपना घर कैसा होता है। यदि आज वे किसी टूटे-फूटे झोंपड़े में हैं, तो कल सड़क पर पड़े दिखाई देंगे। जब हम देखते हैं कि बच्चों की इतनी बड़ी संख्या ऐसी बुरी दशा में पलती है, तो आश्चर्य इस बात का होना चाहिए कि उनमें से इतने थोड़े ही लोग क्यों डाकू और हत्यारे होते हैं। मुझे तो मानव-मात्र में सामाजिक भावों की गहराई देखकर ताज्जुब होता है। खराब-से-खराब मुहल्लों में भी आपको मित्रता के भाव दिखाई देंगे। यदि यह न होता तो समाज के खिलाफ जिहाद बोलनेवालों की संख्या बहुत अधिक होती। यदि लोगों में मित्रता के भाव न होते, यदि उनमें हिंसा के प्रति विरोधी प्रवृत्ति न होती,

तो हमारे शहरों के बड़े-बड़े महलों का एक पत्थर भी साबुत न बचता।

यह तो हुई समाज की निम्नतम सीढ़ी की बात, परन्तु अब यह देखिये कि सड़क पर पलनेवाले ये लड़के समाज के सबसे ऊपरवाली सीढ़ी पर क्या देखते हैं ? उन्हें वहां संवेदना-शून्य और मूर्खतापूर्ण अय्याशी,सजी हुई दुकानें, धन का प्रदर्शन करनेवाला साहित्य, संपत्ति कीं तृषा उत्पन्न करनेवाली धन की उपासना और दूसरे के मत्थे आनन्द से मजा करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। वहां का मूल मंत्र है—"धनवान् बनो ! तुम्हारे मार्ग में जो-कुछ रुकावट डाले, उसे नष्ट कर दो। जिन उपायों से जेल जाना पड़े, केवल उन उपायों को छोड़कर, इसके लिए तुम जो उपाय चाहो, काम में लाओ।" शारीरिक मेहनत से वे यहांतक घृणा करते हैं कि अधिक-से-अधिक वे जिमनास्टिक कर लेंगे या टेनिस खेल लेंगे, मगर फावड़ा या आरा छूना उन्हें गुनाह है। उनमें कठोर मेहनती भुजाएं निम्नता का चिन्ह समझी जाती हैं और रेशमी पोशाक उच्चता की निशानी मानी जाती है।

स्वयं समाज रोज ही ऐसे लोगों को उत्पन्न करता है जो ईमानदारी से परिश्रम करके जीवन बिताने के योग्य नहीं हैं और जिनमें समाज-विरोधी वासनाएं भरी रहती हैं। जब उनके दुष्कर्मों के साथ उन्हें आर्थिक सफलता भी प्राप्त हो जाती है, तो यही समाज उनकी प्रशंसा के गीत गाता है। और जब ये लोग 'सफल' नहीं होते, तो उन्हें जेल भेज देता है। जब सामाजिक क्रांति श्रम और पूंजी के पारस्परिक सम्बन्ध को बदल देगी, जब काहिलों का नाम न रह जायगा, जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार सार्वजनिक भलाई के लिए काम करेगा, जब प्रत्येक बालक को उसकी आत्मा और मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ हाथ से काम करना भी सिखाया जायगा, तब हमें जेलखानों, जल्लादों और जजों की जरूरत न रह जायगी।

मनुष्य तो अपने चारों ओर की परिस्थितियों का, जिनमें वह बढ़ता है और अपना जीवन व्यतीत करता है, फल हुआ करता है। यदि वह अपने को संपूर्ण समाज का अंश समझने का आदी हो जाय, यदि वह यह समझने लगे कि अगर वह किसीको कुछ हानि पहुँचायेगा, तो उस हानि का असर

अन्त में उसपर भी पड़ेगा, तो नैतिक सिद्धांतों का उल्लंघन करनेवाले कार्यों की संख्या बहुत कम रह जायगी।

आजकल जितने कार्य अपराध कहकर दंडनीय समझे जाते हैं, उनमें से दो-तिहाई संपत्ति के विरुद्ध होते हैं। यदि लोगों का निजी संपत्ति रखने का अधिकार उठा दिया जायं, तो वे गायब हो जायं। अब रहे व्यक्तियों के शरीर पर होनेवाले अत्याचार। सो यह सिद्ध हो चुका है कि लोगों में जैसे-जैसे सामाजिक भाव बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे वे भी घटते जाते हैं। यदि हम इन अपराधों के फल पर आघात करने के बजाय उनके कारणों—उनकी जड़—पर ही हमला करें तो वे भी एकदम गायब हो जायंगे।

अबतक दंड की संस्थाएँ—जो वकीलों को इतनी प्यारी हैं—चार सिद्धांतों के मेल पर निर्भर थीं; पहला बाइबिल का बदला लेने के सिद्धांत, दूसरा मध्यकालीन शैतान का विश्वास, तीसरा आधुनिक वकीलों की डर उत्पन्न करने की नीति और चौथा सजा के द्वारा अपराधों को रोकने का विचार।

मैं यह नहीं कहता कि जेलखाने तोड़कर उनके स्थान पर पागलखाने बना दिये जायं। ऐसी दुष्ट बात मेरे हृदय से बहुत दूर है। पागलखाना भी तो एक तरह का जेलखाना है। कुछ उदार विचारवाले लोग कहते हैं कि जेलखानों को ही कायम रखना ही चाहिए, मगर उनमें डाक्टरों और शिक्षकों को नियत कर देना चाहिए। मेरे विचार उनके इस सिद्धांत से भी बहुत दूर हैं। असल में कैदियों को समाज में आजकल जिस चीज का अभाव है, वह है उनकी सहायता के लिए बढ़ाया हुआ हाथ। उन्हें समाज में कोई ऐसा नहीं मिलता जो बाल्यावस्था से ही सरलतापूर्वक मित्रता का हाथ बढ़ाकर उनकी उच्च मानसिक वृत्तियों और आत्मा को विकसित करने में सहायता दे। शरीर की बनावट में दोष होने के कारण या खराब सामाजिक दशाओं के कारण, जिन्हें स्वयं समाज लाखों आदमियों के लिए उत्पन्न करता है, लोगों की इन उच्च मानसिक वृत्तियों के स्वाभाविक विकास में व्याघात पहुँचता है, और इसीलिए वे लोग अपराधी होजाते हैं, लेकिन यदि किसी

व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता छीन ली जाय और उसे किसी भी काम को पसंद करने या न करने का अधिकार न रह जाय, तो वह अपने मस्तिष्क और हृदय की उच्च वृत्तियों को इस्तेमाल नहीं कर सकता। उसके लिए डाक्टरों-वाला जेलखाना या पागलखाना मौजूदा जेलों से भी खराब होगा। मनुष्यों की उन बीमारियों का, जिन्हें हम अपराध कहा करते हैं, केवल-मात्र इलाज मानवी बन्धुत्व-भाव और स्वतंत्रता है।

निःसंदेह प्रत्येक समाज में—चाहे वह कैसी ही उत्तमता से संगठित क्यों न हो—ऐसे मनुष्य अवश्य ही मिलेंगे, जो आसानी से आवेश में आ जायंगे और जो समय-समय पर समाज-विरोधी कार्य भी कर डालेंगे, लेकिन इसे रोकने के लिए जरूरत है तो इस बात की कि उनके आवेश को स्वस्थ राह पर लगाया जाय, वे उसे दूसरे ढंग पर निकाल सकें।

आजकल हम लोग बड़ा एकाकी जीवन व्यतीत करते हैं। निजी संपत्ति-प्रणाली ने हमारे पारस्पकि संबंधों में एक आत्मरत व्यक्तिवाद उत्पन्न कर दिया है। हम एक-दूसरे को बहुत कम जानते हैं। हमें एक-दूसरे के संपर्क में आने के मौके बहुत कम मिलते हैं। किन्तु हम देख चुके हैं कि इतिहास में समष्टिवादी जीवन के उदाहरण—जिनमें लोग एक-दूसरे से अधिक-से-अधिक घनिष्टता से बँधते हैं—मौजूद हैं, जैसे चीन का 'सम्मिलित कुटुम्ब' या कृषक-संघें। ये लोग एक-दूसरे को सचमुच जानते हैं। परिस्थितियों के दबाव से उन्हें एक-दूसरे को सांसारिक और नैतिक सहायता देनी ही पड़ती है।

आदि काल में कौटुम्बिक जीवन समष्टिवाद के ंग का था। वह अब लुप्त हो गया है। अब उसके स्थान में एक नये कौटुम्बिक जीवन का प्रादुर्भाव होगा जो समान आकांक्षाओंवाले आदमियों का कुटुम्ब होगा।

इस कुटुम्ब में लोगों को मजबूरन एक-दूसरे को जानना पड़ेगा, एक-दूसरे की सहायता करनी पड़ेगी और प्रत्येक अवसर पर उन्हें एक-दूसरे को नैतिक सहारा देना पड़ेगा। इस पारस्परिक अवलम्बन से अधिकांश समाज-विरोधी कार्य, जिन्हें हम आज देखते हैं, रुक जायंगे।

लेकिन यह कहा जा सकता है कि फिर भी समाज में बहुत-से लोग ऐसे

बने ही रहेंगे—आप चाहें तो उन्हें रोगी कह सकते हैं—जो समाज के लिए खतरनाक होंगे। क्या यह आवश्यक नहीं है कि हम लोग उनसे छुटकारा पा लें ? या कम-से-कम उन्हें औरों को हानि पहुँचाने से रोकें ?

कोई भी समाज—चाहे कितना ही कम-समझ क्यों न हो—इस ऐसे ऊट-पटांग समाधान को मंजूर नहीं करेगा। उसका कारण भी सुन लीजिये। पुराने जमाने में यह समझा जाता था कि पागलों पर शैतान आता था, इसलिए उनके साथ उसीके अनुसार बर्ताव भी किया जाता था, वे लोग जंगली पशुओं की भांति जंजीरों में जकड़कर अस्तबल की दीवारों में बांध दिये जाते थे। मगर महान् क्रांतिकारी पाइनेल ने उनकी जंजीरें खोलकर उनके साथ भाई की भांति व्यवहार करने की चेष्टा की। पागलों के रक्षकों ने कहा—"वे तुम्हें निगल जायंगे।" मगर पाइनेल ने उनकी बातों की परवाह न की और साहसपूर्वक इन पागलों को अपनाया। फल यह हुआ कि वे लोग, जो पहले जानवर समझे जाते थे, वे सब पाइनेल के चारों ओर आकर एकत्रित होने लगे। इस प्रकार उन लोगों ने अपने व्यवहार से यह सिद्ध कर दिया कि चाहे मनुष्य की बुद्धि रोग से आच्छादित क्यों न हो गई हो, फिर भी मानव-स्वभाव के उत्तम अंशों पर विश्वास करना ठीक है। इसके बाद पाइनेल का आन्दोलन सफल हो गया, और तभी से पागलों को जंजीर में बांधना बन्द हो गया।

इसके बाद बेल्जियम के घील नामक एक छोटे ग्राम के किसानों ने कुछ और भी अच्छी बात निकालीं। उन्होंने कहा—"तुम लोग अपने पागलों को हमारे यहां भेज दो। हम उन्हें पूरी स्वतंत्रता दे देंगे।" उन्होंने उन्हें अपने कुटुम्बों में शामिल कर लिया और उन्हें अपनी मेज पर स्थान दिया। वे मौके-मौके पर उन्हें अपने खेत जोतने में साथ ले जाने लगे और नाच-तमाशे में उन्हें सम्मिलित करने लगे। उनका कथन था—"हम लोगों के साथ खाओ, पियो और नाच-तमाशे में सम्मिलित हो। तुम्हारी तबीयत चाहे तो काम करो, या मैदान में दौड़ लगाओ। जो चाहो करो, तुम एकदम स्वतंत्र हो।" बस, बेल्जियम के किसानों का यही सिद्धांत और यही प्रणाली थी।

मैं यह आरम्भिक काल की बात कहता हूँ। आजकल तो घील में पागलों का इलाज एक खासा पेशा हो गया है। जब कोई बात पैसे के लिए पेशा बना डाली जाती है तब उसमें कोई तत्त्व नहीं रह जाता। इस स्वतंत्रता ने जादू-कैसा असर किया। पागल लोग अच्छे हो गए। यहांतक कि उन लोगों का, जिनका विकार असाध्य था, व्यवहार भी मधुर हो गया और वे कुटुम्ब के अन्य व्यक्तियों की भांति शासन मानने के योग्य हो गए। रुग्ण मस्तिष्क तो सदा अस्वाभाविक रीति से काम करता था, मगर उन लोगों का हृदय ठीक था। वे कहने लगे कि यह एकदम जादू की भांति था। लोग कहने लगे कि रोगियों का रोग-मोचन एक देवी और देवता की कृपा से शांत हुआ था, मगर असल में देवी स्वतंत्रता देवी थी और देवता था खेतों का काम और भाईचारे का व्यवहार।

माड्स्ले कहता है—"पागलपन और अपराध के बीच में एक विस्तृत क्षेत्र है। इस क्षेत्र के एक सिरे पर स्वतंत्रता और बन्धुभाव ने अपना जादू कर दिखाया है, अतः उसके दूसरे सिरे पर भी वे वैसा ही कर दिखायेंगे।"

जेलखाने समाज-विरोधी कर्मों को होने से नहीं रोक सकते। वे उन कार्यों की संख्या में वृद्धि करते हैं। वे जेलखाने उन लोगों का, जो उनमें जाते हैं, कोई सुधार नहीं कर सकते। जेलों में चाहे जितना सुधार किया जाय, वे सदा कैदखाने ही रहेंगे। उनका वातावरण मठों की भांति कृत्रिम ही रहेगा और वे कैदियों को उत्तरोत्तर सामाजिक जीवन के अयोग्य बनाते रहेंगे। जेलखाने अपने उद्देश्य को पूरा नहीं करते। वे समाज का पतन करते हैं। उनका नाम ही मिटा देना चाहिए। वे पाखंडपूर्ण उदारता-मिश्रित बर्बरता के अवशेष हैं।

जेलखाने मनुष्य की मक्कारी और कायरता के कीर्तिस्तंभ है। क्रांति का सबसे पहला कर्त्तव्य इन जेलों को तोड़ना होगा। स्वतंत्र आदमियों में, जिन्हें पारस्परिक सहायता देने की स्वाभाविक शिक्षा मिल चुकी है, तथा समतापूर्ण समाज में समाज-विरोधी कार्यों से डरने की आवश्यकता ही रह जायगी। बहुत बड़ी संख्या में इन कार्यों के होने का कोई कारण ही न

रह जायगा। जो थोड़े-बहुत कार्य बच रहेंगे, वे आरम्भ ही में दबा दिये जायंगे।

कुछ लोगों में बुराइयों की ओर प्रवृत्ति होती है। क्रांति के पश्चात् वर्त्तमान समाज उन्हें हम लोगों के सिपुर्द कर देगा तब यह हमारा काम होगा कि हम उन्हें अपनी उन प्रवृत्तियों का व्यवहार करने से रोक। यह देखा जा चुका है कि यदि समाज के सब लोग ऐसे अपराध करनेवालों के विरुद्ध संगठित हो जायं, तो ये अपराध आसानी से रोके जा सकते हैं।

यदि इन मामलों में हम लोग सफल न हों, तब भी बन्धुभाव और नैतिक सहायता ही उनके सुधार के क्रियात्मक उपाय रहेंगे।

यह कोई काल्पनिक बात नहीं है। इक्के-दुक्के लोग इसे करके दिखा चुके हैं। उस समय यह एक आम बात हो जायगी। वर्त्तमान दण्ड-प्रणाली की अपेक्षा, जो नये अपराधों के लिए बड़ी उपजाऊ भूमि है, ये उपाय समाज-विरोधी कार्यों से समाज की रक्षा करने में कहीं अधिक शक्तिशाली होंगे।

: ६ :

कानून और सत्ता

"जब जनता अज्ञान के अंधकार में होती है और आदमियों के दिमाग उलझे हुए होते हैं, तो कानूनों की संख्या बढ़ा दी जाती है और प्रत्येक कार्य शासन-व्यवस्था के सुपुर्द कर दिया जाता है। चूंकि हर कानून एक नई भ्रांति होती है, जनता कानून से उस चीज की आशा करती है, जो खुद उसके द्वारा, उसकी अपनी शिक्षा और जीवन से ही उद्भूत हो सकती है।"

ये वाक्य किसी क्रान्तिकारी के नहीं हैं, सुधारक के भी नहीं। ये शब्द हैं डिलोय नामक एक कानूनदां के, जिसने फ्रांसीसी कानूनों को बनाया है। ये विचार उस आदमी के हैं जो खुद कानूनों का निर्माता और प्रशंसक था। फिर भी ये शब्द हमारे समाज की अनियमित दशा का सच्चा चित्र खींचते हैं।

वर्त्तमान समाज में जनता इस आशा में रहती है कि उसके कष्टों का निवारण एक नये कानून के बनते ही हो जायगा। किसी अहितकर और कष्टदायक चीज को स्वयं बदल डालने के बजाय, जनता उसमें परिवर्त्तन करने के लिए कानून की मांग करती है। यदि दो गांवों के बीच सड़क अच्छी हालत में नहीं है तो किसान कहता है, "देहाती सड़कों को ठीक करने के लिए एक कानून बनना चाहिए।" अगर एक जमादार अपने अधीनस्थ मजदूरों की गुलामी की मनोवृत्ति अथवा निर्जीव अवस्था का बेजा फायदा उठाकर उनमें से किसी एक की बेइज्जती कर देता है तो अपमानित व्यक्ति कहता है, "जमादारों को अधिक शिष्ट बनाने के लिए एक कानून होना चाहिए।" यदि कृषि अथवा व्यवसाय में मन्दी है तो किसान और व्यापारी कहते हैं—"एक संरक्षण कानून की हमें आवश्यकता है।" बड़े-बड़े व्यापारियों से लेकर एक छोटे जुलाहे तक ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं, जिसको उसके बड़े अथवा छोटे रोजगार की रक्षा के लिए कानून की जरूरत न हो। अगर मिल मालिक मजदूरी की दर घटा देता है, अथवा काम के घंटे बढ़ा देता है, तो राजनैतिक नेता इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इस प्रकार के सब अन्यायों को रोकने के लिए एक कानून बनना चाहिए। संक्षेप में प्रत्येक चीज़ को ठीक करने के लिए बस एक कानून चाहिए। एक कानून पैंशनों के लिए चाहिए, पागल कुत्तों को मारने के लिए भी एक कानून की दरकार है, मनुष्य को नैतिकता सिखलाने के लिए एक कानून हो, और एक उन सब बुराइयों को भी दूर करने के लिए, जिनका कारण स्वयं मनुष्य की कायरता और काहिली है।

इस मनोवृत्ति के कारण क्या हैं? हमारी शिक्षा, जो बचपन से ही हमारी क्रान्ति की भावना को कुचलती रहती है और सदा सत्ता के आगे झुकना सिखाती है। हमारा यह समाज भी इसके लिए कम जिम्मेदार नहीं। जन्म से लेकर मृत्यु तक—हमारी शिक्षा, विकास, प्रेम, सम्बन्ध, मैत्री—सभी सामाजिक सम्बन्ध किसी-न-किसी कानून से नियमित होते हैं। फल यह हुआ है कि हम लोग गुमराह हो गए हैं और अगर यही स्थिति कायम रही

तो हम अपनी सब प्रेरक शक्तियां, यहांतक कि अपना विवेक भी खो देंगे। आज तो हमारा समाज यह भी नहीं सोच पाता कि बिना कानून के शासन के, प्रजातंत्रीय सरकार और चंद शासकों के बगैर, वह जीवित भी रह सकेगा कि नहीं। अगर समाज दासता के कारागार से मुक्त भी हो गया, तो उसका सबसे पहला कार्य हुआ—'कारागार का पुर्ननिर्माण'। फ्रांसीसी राज्यक्रांति के बाद 'स्वाधीनता का प्रथम वर्ष' एक दिन से अधिक नहीं चल सका, क्योंकि उसकी घोषणा करने के दूसरे दिन ही जनता ने अपने को कानून और सत्ता के अधीन सौंप दिया।

सचमुच हजारों वर्षों से हमारे शासकों ने केवल एक ही बात हमारे कानों में दुहराई है—'कानून का आदर करो—सत्ता की आज्ञा मानो।' इसी वातावरण में माता-पिता अपने बच्चों को पालते हैं। स्कूल भी इन्हीं विचारों को पल्लवित करते हैं। कृत्रिम विज्ञान के विच्छन्न भागों को बच्चों के सामने इस चालाकी से रखा जाता है कि मानव-जीवन के लिए कानून की आवश्यकता प्रकट हो। 'कानून की आज्ञा मानना' धर्म बना दिया जाता है। नैतिकता और अध्यापकों की आज्ञाओं को अभिन्न कहकर—उन्हें 'दैवी' करार दिया जाता है। स्कूल में वह विद्यार्थी अच्छा माना जाता है जो कानूनों के अनुसार चलता है और कानून के खिलाफ बगावत करनेवालों का विरोध करता है।

इसके बाद जब ये बालक सामाजिक जीवन में प्रवेश करते हैं, तो समाज और साहित्य प्रत्येक क्षण उन्हीं धारणाओं को दृढ़ करते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पानी का निरन्तर प्रवाह पत्थर में गड्ढा कर देता है। इतिहास, राजनीति तथा अर्थशास्त्र की पुस्तकें इसी कानून के प्रति श्रद्धा से ही तो भरी हैं। और-तो-और, भौतिक शास्त्र भी, जो दृष्टिगोचर वस्तुओं पर आधारित ज्ञान है, उसमें भी अर्थशास्त्र के कृत्रिम सिद्धान्तों का प्रवेश कर उसे इस कार्य में सहायक बना दिया गया है। इस प्रकार कानून के प्रति श्रद्धा बनाए रखने के लिए, समाज ने हमारे विवेक को ही भूल-भुलैयों में डाल दिया है। अखबार भी यही काम करते हैं। उनमें कोई भी लेख ऐसा

नहीं होता जो कानून के लिए आदर की शिक्षा न देता हो, फिर चाहे अगले कालम में ही कानून की निष्क्रियता के प्रमाण दीख पड़ें और यह स्पष्ट हो जाय कि शासक कानून को किस प्रकार दलदल में घसीटते हैं। इस सबका नतीजा यह हुआ है कि कानून की गुलामी एक गुण हो गया है। मुझे तो शक है कि शायद ही कोई ऐसा क्रांतिकारी रहा होगा, जिसने अपने प्रारम्भिक जीवन में कानूनों की 'रक्षा' की बात न की हो, और उसी सांस में 'कानून' के दोषों के विरुद्ध आवाज न उठाई हो––इस तथ्य को वे भूल जाते हैं कि ये दोष तो कानून के अवश्यम्भावी परिणाम हैं।

कला भी विज्ञान के साथ स्वर-में-स्वर मिलाती है। मूर्तिकार, चित्रकार अथवा संगीतज्ञ अपनी कलम अथवा छेनी से कानून की रक्षा करते हैं और कानून के विरोध में सिर उठानेवालों को दबाने के लिए सदा तत्पर और उत्सुक रहते हैं। कानून की देवी के लिए मन्दिर बनाए जाते हैं। तथाकथित क्रांतिकारी उस देवी के पुजारियों पर हाथ उठाने से डरते हैं। और क्रान्ति किसी प्राचीन व्यवस्था को ढहाती है, तो ये क्रान्तिकारी एक नये कानून द्वारा ही उस क्रिया को पवित्र करते ह।

ोजमर्रा के व्यवहार को संचालित करने के लिए नियमों का यह अस्त-व्यस्त ढेर––जिसे हम कानून कहते हैं––हमें गुलामी, सामन्तशाही और राजशाही से विरासत में मिला है। अब तो इसने उन पत्थर के दैत्यों का रूप ले लिया है, जिनके सामने मनुष्य की बलि दी जाती थी और जिनको असभ्य आदमी इस डर से स्पर्श भी नहीं करते थे कि कहीं उनके ऊपर वज्र न गिर पड़े।

कानून की यह नई उपासना मध्यवर्ग के हाथ में सत्ता आने के बाद–– यानी फ्रांस की राज्यक्रांति के बाद––विशेष सफलतापूर्वक स्थापित हुई है। प्राचीन व्यवस्था में आदमी कानून की चर्चा कम करता था। हां मौंटेस्क्यू, वॉलटेयर, रूसो आदि अवश्य बादशाही स्वेच्छा के विरोध में कानून का नाम लेते थे। उन दिनों राजा अथवा उसके दासों की आज्ञा मानना आवश्यक था अन्यथा सजा अथवा फांसी थी। लेकिन क्रांति के दौरान में और उसके बाद

जब वकीलों के हाथ में शक्ति आई, तो उन्होंने कानून की पवित्रता स्थापित करने का भरसक प्रयत्न किया--इसीके ऊपर उनकी उन्नति निर्भर थी। मध्यवर्ग ने आप जनता के विद्रोह को रोकने के लिए कानून का ही सहारा लिया। जनता के क्रोध और क्षोभ से बचने के लिए धार्मिक पुजारियों ने तुरंत ही इस कानून को पवित्र भी घोषित कर दिया। और अन्त में भोली-भाली जनता ने भी, वर्त्तमान व्यवस्था को पहले की हालत से बेहतर समझकर, स्वीकार कर लिया।

सम्पूर्ण स्थिति को भली-भांति हृदयंगम करने के लिए हमें कल्पना द्वारा १८वीं शताब्दी में पहुंचना होगा। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से पूर्व की स्थिति तो सर्वविदित है। सामन्तों द्वारा निरीह जनता पर अनगिनत जुल्म ढहाये जाते थे। उस भयावह स्थिति में, वास्तव में किसान को इन शब्दों से बड़ी राहत मिली होगी—'कानून के सामने सब बराबर हैं—प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति को कानून की समान रूप से आज्ञा माननी चाहिए।' गरीबों के साथ जानवरों से भी बदतर व्यवहार किया जाता था। 'अधिकार' शब्द से वे अनभिज्ञ थे। अपने मालिक के अत्यन्त घृणास्पद और वाहियात कारनामों के विरोध में उन्हें कभी न्याय नसीब नहीं हुआ था, बस एक ही उपाय उनके पास था कि वे उसे मार डालें और स्वयं फांसी पर चढ़ जायं। अब जनता ने देखा कि इस नई घोषणा द्वारा—चाहे सिद्धान्त में ही सही—उसके और मालिकों के अधिकार समान हैं। चाहे यह कानून कुछ भी हो, इसके द्वारा आशा बंधी थी कि मालिक और किसान के ऊपर इसका प्रभाव समान रूप से पड़ेगा, न्यायाधीश के सामने गरीब और अमीर कानून के अनुसार बराबर होंगे। आज हम जानते हैं कि यह आशा कितनी थोथी थी। लेकिन उस जमाने में तो यह कदम उन्नति की ओर था। इस प्रकार न्याय की अर्चना की गई—उसी तरह जिस तरह कपट द्वारा सत्य की आराधना की जाय। यही कारण है कि जब भयभीत मध्यवर्ग के रक्षकों—रौबसपियरों और डान्टनों ने रूसो और वॉलटेयर प्रभृति लेखकों की रचनाओं का आश्रय लेकर घोषणा की कि 'कानून का आदर करो—प्रत्येक के लिए कानून समान हैं'—तो

जनता ने इस समझौते को स्वीकार कर लिया। जनता का क्रांतिकारी जोश अपने प्रचण्ड दुश्मनों से लड़ते-लड़ते लगभग शांत हो गया था। इसलिए उसने कानून के जुए के आगे अपनी गर्दन झुका दी, ताकि वे सामन्तों की तानाशाही से तो बच सकें।

मध्यवर्ग इस सिद्धान्त का विस्तार करता गया और इससे बेजा फायदा उठाता रहा। 'प्रजातंत्रीय सरकार' और 'कानून का आदर' बस इन दो शब्दों में ही, मध्यवर्ग के युग—यानी १९वीं शताब्दी—का सम्पूर्ण दर्शन समाया हुआ है। मध्यवर्ग ने इन्हीं सिद्धान्तों का विद्यालयों के द्वारा प्रचार किया। अपने कला और विज्ञान को भी इसी कार्य में लगाया है। संक्षेप में अपने विश्वासों का प्रचार करने के लिए उसने कोई साधन अछूता नहीं छोड़ा। और यह सब इस वर्ग ने इतनी सफलतापूर्वक किया है कि आज गुलाम और पराधीन व्यक्ति अपने मालिकों से विनम्र प्रार्थना करते हैं कि वे कृपया कानूनों को संशोधित कर उनकी रक्षा करें, उन्हीं कानूनों को, जिन्हें इन स्वार्थी मालिकों ने स्वयं बनाया था।

लेकिन अब जमाना बदल रहा है, जनता कुछ समझने लगी है। हर जगह विद्रोह के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। जनता कानून की आज्ञा मानने के पहले सवाल करती है कि कानून बना कैसे? उसकी उपयोगिता क्या है? और इसके मानने की जरूरत क्या है? आज तो समाज के पवित्रतम आधारों की आलोचना हो रही है और उनमें सबसे पहली चोट इस कानून के ऊपर ही है।

कोई विवेकशील व्यक्ति यदि कानून के उद्गम की खोज करे तो उसे मालूम होगा कि असभ्य लोगों के डरों से उद्भूत देवता और उनके अलौकिक होने की गारंटी करनेवाले कुछ धूर्त, स्वार्थी और चालाक पुजारी ही कानून की जड़ पर हैं। या फिर रक्तपात, तलवार और आग द्वारा विजय से कानून का प्रारम्भ हुआ। यदि कानून का जरा गहरा अध्ययन किया जाय, तो मालूम होगा कि वह मानव-समाज की भांति विकासशील नहीं, वरन् स्थिर है—मानव-समाज के विभिन्न परिवर्त्तनों के साथ संशोधित और

परिवर्तित होना कानून के लिए असम्भव है। अब जरा कानून की व्यवस्था के विकास का अध्ययन करें। बाइज़ैन्टान जैसों के अत्याचार, धार्मिक गुरुओं द्वारा दी गई यातनाएं, मध्ययुग के अमानुषिक अत्याचार, जल्लादों द्वारा जीवित मांस का उतारना, लोहे की जंजीरों, हथकड़ी, जेल की मनहूस कोठरियों, दुःख, शाप और आँसू--इन सबने मिलकर कानून की व्यवस्था का पोषण किया है। आज भी पहले की भांति ही कानून हथकड़ी, बन्दूक और जेल के बल पर चल रहा है।

और कानून के प्रभाव को भी देख लीजिये। एक ओर है कैदी--जिसे जानवर बना दिया गया है--उसकी सारी मनुष्यता और नैतिकता छीनकर उसे पिंजड़े का जन्तु बना दिया गया है--और दूसरी तरफ है न्यायाधीश, जो मनुष्य के सम्पूर्ण स्वाभाविक गुणों को छोड़कर कानून की मसनूई दुनिया में विचरण कर रहा है। इसे जेल और फांसी की सजा देने में ही आनन्द आरहा है, अपने निर्मम पागलपन में वह एक क्षण के लिए नहीं सोच पाता कि जिनको वह सजाएं दे रहा है, उनकी नजरों में स्वयं उसका कैसा गहरा पतन हो गया है।

कानून बनानेवालों का एक बड़ा समुदाय पैदा हो गया है। वे कानून बनाते ही चले जाते हैं--एक क्षण के लिए भी नहीं सोचते कि आखिर ये कानून हैं किसलिए ? स्वच्छता के नियमों से नितान्त अनभिज्ञ होते हुए भी ये आज शहरों की सफाई के कानून बनाते हैं, कल फौज के लिए अस्त्र-शस्त्रों का कानून बनाते हैं--जब वे स्वयं इतना भी नहीं जानते कि बन्दूक क्या बला है! वे लोग जो स्वयं कभी एक दिन के लिए भी अध्यापक नहीं रहे, शिक्षा और अध्यापन के विषय में कानूनों की रचना करते हैं! इस प्रकार हर चीज के लिए कानून बनते चले जाते हैं--बस निर्माताओं का सिर्फ एक बात की ओर निरन्तर ध्यान बना रहता है--गरीबों के लिए जेल और फांसी की व्यवस्था। और वास्तव में जिन लोगों को ये सजाएं दी जाती हैं, वे इन कानून बनानेवालों से हजार दर्जे कम अनैतिक हैं।

कानून के परिणामों की अन्तिम कड़ियां हैं जेलर, जो अपने सब

मानवीय भावों को दिन-प्रति-दिन छोड़ता जा रहा है ; जासूस, जिसे शिकारी कुत्ता बना दिया गया है ; और खुफिया पुलिस का आदमी,जो स्वयं से ही घृणा करने लगा है । चुगली को गुण मान लिया गया है और भ्रष्टाचार व्यवस्थित कर दिया गया है । इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य-समाज की सम्पूर्ण बुराइयों और कमजोरियों को संवर्धन और प्रोत्साहन दिया गया है, जिससे कानून की विजय हो सके । हमें कानून के ये परिणाम स्पष्ट दीख रहे हैं और इसीलिए बजाय पुराने सिद्धान्त के निरर्थक रहने के कि "कानून का आदर करो" हम घोषणा करते हैं—"कानून और उसके सरंजाम से घृणा करो !" "कानून की आज्ञा मानो"—इस कायरतापूर्ण वाक्य के स्थान पर हमारी आवाज है—"सब कानूनों के खिलाफ विद्रोह कर दो !"

आप केवल एक बार मानव-समाज के ऊपर कानून के उपकारों और उसके नाम पर किये गए दुष्कृत्यों और अनाचारों का तुलनात्मक अध्ययन कर लीजिये और फिर आपको निर्णय करने में देर न लगेगी कि सत्य क्या है ।

यदि हम इतिहास देखें तो मालूम पड़ेगा कि कानून नैसर्गिक नहीं, वरन् आधुनिक युग की देन है । अनेक युगों तक बिना किसी लिखित कानून के मनुष्य समाज का कार्य सुगमतापूर्वक चलता रहा—उन दिनों मन्दिरों के ऊपर खुदे हुए अक्षर भी नहीं थे । मानव-समाज के बीच आपसी सम्बन्धों का नियमन केवल रीति-रिवाजों द्वारा होता था और ये रीति-रिवाज निरन्तर व्यवहार में आने के कारण पवित्र हो गए थे, प्रत्येक व्यक्ति बचपन ही में इन्हें सीख लेता था—उसी तरह जिस तरह वह शिकार, खेती अथवा गोपालन द्वारा अपने भोजन को प्राप्त करना सीखता था ।

सम्पूर्ण मानव-समाज इस पुरातन युग में से गुजरा है और आज भी मानव-समाज के एक बड़े भाग के पास कोई लिखित कानून नहीं है । इनमें प्रत्येक के पास अपने स्वयं के लोकसिद्ध रीति-रिवाज हैं, उसके कुछ सामाजिक व्यवहार हैं, जो उस जाति के आदमियों के बीच ठीक सम्बन्ध बनाए रखने के लिए काफ़ी हैं । हमारे सभ्य राष्ट्रों में भी, अगर हम बड़े शहरों से

हटकर गांवों में जायं तो देखेंगे कि वहां के निवासियों के आपसी सम्बन्ध पुरानी और लोकसिद्ध रीतियों के आधार पर ही चलते हैं, व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा निर्मित कानून वहां फिजूल हैं। रूस, इटली, स्पेन के किसानों को—फ्रांस और इंग्लैण्ड के भी अधिकांश किसानों को—लिखित कानून की कोई कल्पना नहीं। यह कानून तो उनके जीवन में निरर्थक ही आ टपकता है। उनके आपसी सम्बन्ध—और कभी-कभी तो ये बड़े जटिल होते हैं—सदा पुरानी रीतियों के अनुसार ही चलते हैं। और हम देख चुके हैं कि प्राचीन युग में तो सम्पूर्ण मानव-समाज का इसी भांति संचालन होता था।

प्राचीन काल के समाज के रस्म-रिवाजों का यदि हम अध्ययन करें तो हमें दो भिन्न-भिन्न प्रकार की व्यवस्थाएं दीखती हैं।

चूंकि मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी है, इसलिए उसमें कुछ ऐसी आदतों और भावनाओं का विकास हो जाता है जो समाज को जीवित रखने और जाति के संवर्धन के लिए आवश्यक व लाभदायक हैं। यदि मनुष्य में सामाजिक भावनाओं का अभाव होता तो सम्मिलित जीवन ही असम्भव था। ये सामाजिक भावनाएं कानूनों द्वारा नहीं आईं, वे तो कानूनों के जन्म के पहले की हैं, और न वे धर्म के कारण हैं—धर्मों के पूर्व भी वे थीं। ये सामाजिक भावनाएं तो प्राणि-मात्र में विद्यमान हैं। वे स्वयं विकसित होती हैं, उसी भांति जिस तरह जानवरों में सहज ज्ञान आ जाता है। वास्तव में ये सामाजिक भावनाएं तो विकास के सिद्धान्त के अनुसार उद्भूत हैं, ताकि समाज अपने जीवन-संघर्ष में एक बना रह सके। असभ्य जातियां अपना अन्त जाति में ही एक-दूसरे को खाकर नहीं कर लेतीं। वे जानती हैं कि अन्ततः यह कहीं अधिक लाभदायक होगा कि वे खेती करें, बजाय इसके कि वे साल में एक दफा अपने किसी वृद्ध सम्बन्धी को खा लें। अनेक यात्रियों ने बिलकुल स्वतंत्र जातियों के संगठन का वर्णन किया है, उनमें न कोई सरदार है और न कानून। उन्होंने लिखा है कि इन जातियों के आदमियों ने आपसी झगड़ों में एक-दूसरे को मार डालना छोड़ दिया है। इसका कारण है सामूहिक जीवन के अवश्यम्भावी परिणामस्वरूप उनमें भ्रातृत्व और एकता की

भावनाएं विकसित हो गई हैं। और अब वे अपने झगड़ों को सुलझाने के लिए एक तीसरे व्यक्ति की सहायता लेना अधिक अच्छा समझते हैं। आतिथ्य-भावना, मनुष्य-जीवन के प्रति श्रद्धा, प्रत्युपकार करने की इच्छा, कमजोर के प्रति दया, साहस––यहांतक कि दूसरों के लिए स्वयं अपने को बलिदान करने की भावना (जिसका प्रारम्भ अपने बच्चों और मित्रों से होकर अन्त में सम्पूर्ण समाज के लिए हो जाता है)––ये सब गुण मनुष्य में––अन्य सामाजिक प्राणियों की भांति कानूनों से पहले और बिना किसी धर्म के––विकसित होते हैं। इस तरह की भावनाएं और रीतियां सामाजिक जीवन की अवश्यम्भावी परिणाम हैं। वे मनुष्य में नैसर्गिक नहीं, जैसाकि पुरोहित और आध्यात्मिक लोग बतलाते हैं, बल्कि वे सामूहिक जीवन के परिणाम-स्वरूप हैं।

सामाजिक जीवन और जाति की रक्षा के लिए आवश्यक इन रीतियों के साथ-ही-साथ कुछ दूसरी तरह की इच्छाएं, आदतें और रीतियां भी विकसित हो जाती हैं। दूसरों के ऊपर हुकूमत करने और अपनी इच्छा थोपने की कामना, निकटवर्ती जाति की मेहनत की उपज को लूटने की लिप्सा, अपने लिए भोग-विलास की सामग्री इकट्ठा करने का मोह––ये सब स्वार्थी इच्छाएं––एक दूसरी प्रकार की आदतों और रीतियों को जन्म देती हैं। पुरोहित और धूर्त पंडित, जो जनता के मिथ्या विश्वासों से फायदा उठाते हैं, तथा जो स्वयं शैतान के भय से मुक्त रहकर उसे दूसरों में विकसित करते हैं और सिपाही, जो पड़ोसियों के ऊपर हमले और लूटमार कराते हैं, ताकि वे स्वयं युद्ध से धन और दास लेकर लौट सकें, इन दो वर्गों ने मिलकर समाज के ऊपर ऐसी रीतियां थोप दी हैं जो इनके स्वयं के लिए तो लाभ-दायक हैं, लेकिन जनता को गुलामी की जंजीरों से कस देती हैं। जन-साधारण के भय, आलस्य और अकर्मण्यता से फायदा उठाकर पुरोहित और सिपाही ने ऐसी असामाजिक रीतियों को समाज में पूर्णतः स्थापित कर दिया है और इस प्रकार अपनी सत्ता को स्थायी कर लिया है। इस कार्य में इन पुरोहितों और सिपाहियों ने परम्परा के प्रति जनता की श्रद्धा से पूरा लाभ उठाया

होगा। बच्चों और असभ्य जातियों में यह प्रवृत्ति हद दर्जे तक पाई जाती है। जानवरों में भी यह मौजूद रहती है। जहां मनुष्य में थोड़ा भी अन्ध-विश्वास आया वह स्थापित व्यवस्था में नई चीजों के प्रवेश से डरने लगता है और जो-कुछ भी परम्परागत है, उसको पवित्र मानकर वह उसकी पूजा करने लगता है। युवक जब कभी मौजूदा व्यवस्था में परिवर्त्तन की इच्छा प्रकट करते हैं तो वृद्ध उनसे यही कहते हैं—"हमारे पूर्वज ऐसा ही करते चले आये हैं—उन्होंने तुम्हें पाला-पोसा, वे खूब सफल रहे, इसलिए अब तुम भी वैसा ही करो।" किसी भी अज्ञात और अपरिचित चीज से उन्हें डर लगता है, और वे अपने भूत से ही चिपके रहना चाहते हैं—चाहे उस भूत के मानी गरीबी, गुलामी और अत्याचार ही क्यों न हों।

यह भी कहा जा सकता है कि जितनी हीन और गिरी अवस्था में मनुष्य होता है, उतना ही अधिक वह प्रत्येक प्रकार के परिवर्त्तन से डरता है। उसे शंका रहती है कि कहीं उसकी हालत और भी बदतर न हो जाय। इसके पूर्व कि मनुष्य पुरानी व्यवस्था को भी खतरे में डालने का साहस कर सके, और श्रेष्ठतर व्यवस्था की इच्छा कर सके, यह आवश्यक है कि उसके निराश वातावरण में आशा की एक किरण प्रवेश करे। जबतक उसमें आशा का संचार नहीं होता और जबतक वह उन लोगों की गुलामी से मुक्त नहीं होता, जो उसके अंधविश्वास और भय से फायदा उठा रहे हैं, वह अपनी पहली हालत में ही रहना अधिक पसन्द करता है। अगर उनमें से कुछ युवक परिवर्त्तन की आकांक्षा करते हैं तो उनके वृद्ध लोग युवकों का विरोध करते हैं। कुछ असभ्य जातियाँ तो जीवन त्याग देंगी, लेकिन अपनी पुरानी रीतियों को छोड़ेंगी नहीं, क्योंकि अपनी बाल्यावस्था से ही वे सुनती आ रही हैं कि स्थापित व्यवस्था में किंचित परिवत्तन के कारण भी, उनके ऊपर अपार दुःख पड़ेंगे और उनकी सम्पूर्ण जाति नष्ट हो जायगी। आज भी अनेक राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री और तथाकथित क्रान्तिकारी इन्हीं संस्कारों के प्रभाव में काम करते हैं और नष्टप्राय भूत से चिपके रहना चाहते हैं। बहुतेरे इस प्राचीन व्यवस्था में ही आदर्शों की खोज करते हैं और अनेक क्रान्तिकारी

केवल पिछली क्रान्तियों का अध्ययन कर उनकी नकल करने के प्रयत्न में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं।

परम्परा की भावना का जन्म अंधविश्वास, अकर्मण्यता और कायरता से होता है। यही भावना अत्याचारों का आधार-स्तम्भ रही है। पुरोहितों और सिपाहियों ने इस भावना का खूब फायदा उठाया। उन्होंने उन्हीं रीतियों को बढ़ावा दिया जो स्वयं के लिए लाभदायक थीं और फिर उनको सम्पूर्ण जाति के ऊपर थोप दिया। इसी भावना का फायदा उठाकर नेताओं ने गरीबों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता छीन ली। लेकिन जबतक मनुष्यों के बीच असमानताएं केवल कार्यविधि पर निर्भर थीं और वे शक्ति तथा धन के केन्द्रीकरण के कारण कठोर और स्थायी नहीं हुई थीं, कानून तथा उसके भयावह सरंजाम—यानी न्यायाधीश और जेलों की कोई आवश्यकता नहीं थी।

लेकिन जैसे ही समाज दो परस्पर विरोधी वर्गों में विभाजित हो गया, जिसमें एक आधिपत्य जमाने की और दूसरा उससे बचने की कोशिश करता, विग्रह का सूत्रपात हो गया। अब विजेता को युद्ध में प्राप्त लूट को स्थायी बनाने की चिन्ता हुई और तदर्थ उसने लूट की सम्पत्ति को झगड़े से परे करने के लिए उसे पवित्र और आदरणीय बनाने का प्रयत्न किया। पुरोहित ने समें योग दिया और उसने लूट को जायज और पवित्र घोषित कर दिया। सर्वप्रथम कानून का इस प्रकार उदय हुआ। इस कानून का प्रधान उद्देश्य था—ऐसी रीतियों को स्थायी करार देना, जो सत्ताधारियों के फायदे की थीं। सैन्य बल द्वारा इस कानून की आज्ञापालन कराई गई। इस कानून ने सिपाही की शक्ति को और भी मजबूत बना दिया, अब उसके पास केवल पाशविक बल ही नहीं था—वह कानून का रक्षक भी हो गया।

यदि कानून में केवल शासकों के लाभ की बातें होतीं तो उसके स्वीकृत और पालन कराने में थोड़ी असुविधा होती। इसलिए व्यवस्थापकों ने रीतियों की दोनों धाराओं को एक ही शास्त्र (कोड) में रख दिया। पहले नैतिकता और एकता की भावना के सिद्धान्त, जो सामूहिक जीवन के कारण

उत्पन्न हुए थे, रखे गए; और इनके साथ ही वे आज्ञाएं लिपिबद्ध कर दी गईं जो असमानता को स्थायी करने के लिए प्रचारित की गईं थीं। इस प्रकार ये रीतियां जो समाज के जीवित रखने के लिए नितान्त आवश्यक थीं, शास्त्र (कोड) में बड़ी ही चालाकी से उन आज्ञाओं के साथ मिला दी गईं जो शासकों ने समाज के ऊपर थोप दी थीं। फिर जनता से इन दोनों प्रकार की रीतियों का समान रूप से आदर करने को कहा गया। शास्त्र कहता है—"किसीको मत मारो" और उसके बाद तुरन्त ही लिखा है—"और पुरोहित को टैक्स दो।" शास्त्र में लिखा है, "चोरी मत करो" और इसी का उत्तरार्ध है—"जो टैक्स देने से इन्कार करेगा उसके हाथ काट डाले जावेंगे।"

कानून के विकास की यही कथा है और उसकी यह दुरंगी प्रकृति अब तक कायम है।

हमने देखा कि कानून का उद्गम शासक वर्ग की इस इच्छा में है कि वे रीतियां, जो उसके स्वयं के लिए लाभदायक हैं और इसलिए जनता के ऊपर थोप दी गई हैं, सदैव बनी रहें। और इस कानून-शास्त्र की विशेषता यह है कि वे रीतियां जो समाज के लिए लाभदायक हैं और समाज में जिनके समाहत होने के लिए कानून की जरूरत नहीं, उन दूसरी रीतियों के साथ मिला दी गईं जो केवल शासकों के स्वार्थ की हैं, जनता के लिए हानिकारक हैं और जो इसलिए केवल सजा के डर से ही चल सकती हैं।

व्यक्तिगत सम्पत्ति और कानून एक बात में बिलकुल समान हैं! व्यक्तिगत सम्पत्ति का जन्म हिंसा और दग़ाबाज़ी में और विकास सत्ता के संरक्षण में होता है। और जनता इन दोनों को कभी भी आदर की दृष्टि से नहीं देख सकती। जिस दिन जनता अपनी गुलामी की जंजीरों को तोड़ने का निश्चय करेगी, हिंसा और अंधविश्वास से उत्पन्न तथा पुरोहित और शोषक अमीरों द्वारा संवर्धित इस कानून को तहस-नहस कर देना होगा। हमें यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जायगी—जब हम तत्त्व निरूपण करके देखेंगे कि किस प्रकार धर्म, सत्ता और वर्त्तमान प्रजातंत्रीय सरकार

के संरक्षण में कानून का विकास हुआ है।

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार स्थापित रीति-रिवाजों में से कानून की उत्पत्ति हुई और कैसे प्रारम्भ से ही कानून में मानव समाज की प्रगति के लिए आवश्यक सामाजिक आदतें उन रीतियों के साथ मिला दी गईं जो कुछ स्वार्थी व्यक्तियों ने जनता के अंधविश्वास का फायदा उठा कर अपनी सत्ता जमाने के लिए समाज पर थोप दी थीं। आगे चलकर राज्य के विकास के दौरान में कानून के इस दुरंगेपन ने उसके विस्तार को प्रभावित किया है। जहां सामाजिक जीवन के लिए लाभदायक और आवश्यक सिद्धान्तों में बहुत थोड़ा परिवर्त्तन किया गया है, वहां कानून के दूसरे भाग को तत्कालीन शक्तिशाली वर्ग के स्वार्थ-लाभ के लिए खूब विकसित किया गया है।

समय-समय पर इस सत्ताधारी वर्ग ने शोषित जनता के विद्रोह करने पर ऐसे कानून भी दे दिये हैं जो पिसते हुए समाज को संरक्षण देते प्रतीत होते हैं। लेकिन इस प्रकार के कानूनों ने केवल पुराने शोषक कानूनों का खंडन किया है। वकिल ने कहा है कि "सर्वश्रेष्ठ कानून वे ही थे, जिनसे पूर्ववर्ती कानून रद्द हुए।" लेकिन जनता को कितने भगीरथ प्रयत्न करने पड़े हैं और कितनी खून की नदियां बही हैं, जब कभी गुलामी की जंजीरों में बांधनेवाले इन मौलिक कानूनों के खंडन का सवाल उठाया है। सामन्ती अधिकारों और गुलामी के अवशेषों को उखाड़ने और शाही दरबार की ताकत को तोड़ने में फ्रांस को ४ वर्ष क्रान्ति और २० साल तक युद्ध करना पड़ा था। छोटे-से-छोटे अन्यायपूर्ण कानून को रद्द कराने में भी वर्षों संघर्ष करना पड़ा और फिर भी क्रान्ति के चार वर्षों के बाद वे फिर जीवित हो गए यानी केवल क्रान्ति के दौरान में वे प्रयोग में नहीं लाये गए।

साम्यवादियों ने व्यक्तिगत सम्पत्ति की उत्पत्ति का इतिहास कई बार दुहराया है। उन्होंने दिखलाया है कि किस प्रकार युद्ध और लूट, दासता और गुलामी, शोषण और धूर्तता से व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रारम्भ और

विकास हुआ है। उन्होंने दिखलाया है कि कैसे मजदूरों के खून से उसका पोषण हुआ है और किस प्रकार उसने सम्पूर्ण संसार को अपने कब्ज़े में किया है। कानून के जन्म और विकास का वही इतिहास हमें कहना है। जैसाकि स्वाभाविक था, जनता की सहज बुद्धि किताबी विद्वानों से आगे बढ़ गई है। जनता ने कानून के इस इतिहास को अब भली-भांति समझ लिया है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की भांति कानून का भी विकास लूट, गुलामी और शोषण के परिणामों को स्थायी करने के उद्देश्य से हुआ है। जुड़वां भाई-बहनों की तरह कानून और व्यक्तिगत सम्पत्ति साथ-ही-साथ बढ़े हैं और मनुष्य-जाति के दुःखों के बढ़ाने में एक-दूसरे के पूरक हैं। यूरोप के प्रत्येक देश में उनका इतिहास लगभग एक-सा ही है। उनमें फर्क केवल छोटी-छोटी बातों में है—मूलतः दोनों का इतिहास एक-सा ही है। फ्रांस अथवा जर्मनी में कानून के विकास के इतिहास पर नजर डालना मानो यूरोप के अधिकांश देशों में उसके विकास को जानना है।

प्रारम्भिक अवस्था में कानून एक राष्ट्रीय समझौता था। यह सच है कि यह समझौता अक्सर जनता आसानी से स्वीकार नहीं करती थी। प्रारम्भ में भी सत्ताधारी अमीर लोग गरीबों के ऊपर अपनी इच्छा थोपते थे। लेकिन उन दिनों जनता इसका प्रबल विरोध करती थी और अक्सर शोषकों को अपनी शक्ति महसूस करा देती थी।

लेकिन जब एक ओर धर्म और दूसरी ओर सरकारों ने जनता को गुलामी की दुहरी जंजीरों से कस लिया, तो कानून बनाने का अधिकार सम्पूर्ण राष्ट्र के हाथों से निकलकर विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों के पास पहुंच गया। अपने कोषों में संचित धन के बल पर धर्म ने अपनी सत्ता को जमाया। व्यक्तिगत जीवन में उसने और भी अधिक हस्तक्षेप करना शुरू किया और आत्माओं के बचाने का बहाना लेकर उसने गुलामों की मेहनत की उपज पर कब्ज़ा किया। उसने प्रत्येक वर्ग के आदमियों से टैक्स उगाहे, अपने अधिकारों का क्षेत्र विस्तृत किया, और खूब सजाएं दीं। सैकड़ों व्यक्तियों

को धार्मिक सत्ता के विरुद्ध अपराधी घोषित कर उनसे जुर्माने वसूल किये और इस प्रकार अपनी सम्पत्ति बढ़ाई। इन धार्मिक कानूनों के विषय में फ्रांसीसी कानून के एक इतिहास लेखक ने ठीक ही लिखा है—"स्पष्टत: ये कानून जनता के प्रतिनिधियों के बजाय धर्मान्धों के गुट द्वारा बनाये गए प्रतीत होते हैं।"

धर्म के इन ठेकेदारों के साथ-ही-साथ सामंतों ने किसानों और मजदूरों पर अपनी सत्ता जमाई, और वे सम्पूर्ण समाज के विधि-निर्माता और न्यायाधीश हो गए। दसवीं शताब्दी में निर्मित कानूनों को हम देखें। इनके ारा सामंतों और गुलामों के बीच मजदूरी, बेकारी और टैक्स आदि का नियमन होता था। इन कानूनों को जरा गौर से देखने से ही स्पष्ट हो जायगा कि इनके बनानेवाले लोग चन्द लुटेरे थे। वे संगठित हो गए थे। और चूंकि जनता खेती की ओर ध्यान देने के कारण शांतिप्रिय हो गई थी, ये लुटेरे अपने काम में सफल हो गए। इन स्वार्थियों ने जनता की स्वाभाविक न्यायप्रियता का फायदा उठाया और अपनेको न्याय के ठेकेदारों के रूप में उपस्थित किया। उन्होंने कानून के मौलिक सिद्धान्तों को अपनी व्यक्तिगत आमदनी का जरिया बनाया और अपने आधिपत्य को कायम रखने के लिए अनेक कानून बना डाले। कालान्तर में कानूनदां लोगों ने इनको इकट्ठा कर विभाजित कर दिया और इस प्रकार हमारे वर्त्तमान कानून शास्त्र की रचना हुई। क्या पुरोहितों और सामन्तों के निजी स्वार्थों से परिपूर्ण इस कानून शास्त्रों का हम आदर करें?

पहली क्रान्ति—यानी शहरी जनता का विद्रोह—इन कानूनों के केवल एक हिस्से को ही बदलवाने में सफल हुई। मताधिकार-प्राप्त नगरों के अधिकार-पत्र सामन्ती कानूनों में थोड़े-से परिवर्तन ही कराने में सफल हुए। लेकिन फिर भी इन मताधिकार-प्राप्त नगरों के कानूनों में और हमारे वर्त्तमान कानूनों में कितना अधिक अन्तर है? उन दिनों नगरों ने नागरिकों को गिरफ्तार करने अथवा फांसी देने का जिम्मा अपने ऊपर नहीं लिया था। वे इतनी सत्ता से ही सन्तुष्ट थे कि नगर के खिलाफ षड्यंत्रकारियों को नगर

से निकाल दें और उनके घर गिरवा दें। उनके अधिकार तथाकथित अपराधों और अनाचारों पर जुर्माना करने तक ही सीमित थे। और बारहवीं शताब्दी में नगरों में वह उचित सिद्धान्त भी प्रचलित था कि किसी एक आदमी के अपराध के लिए सम्पूर्ण नगर को दोषी ठहराया जाता था। आज यह सिद्धान्त भुला दिया गया है। उस जमाने में अपराध सम्पूर्ण समाज के लिए एक दुर्घटना अथवा दुर्भाग्य समझा जाता था। यही विचार आजतक रूसी किसानों में प्रचलित है। इसीलिए वे लोग बाइबिल में प्रतिपादित व्यक्तिगत तौर पर बदला लेने के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते थे। उनके विचार से प्रत्येक अपराध का जिम्मा सम्पूर्ण समाज पर पड़ता था। बाइज़ैन्टाइन धर्म के प्रभाव में निरन्तर रहने के कारण ही पश्चिम में पूर्वी तानाशाही की क्रूरता आई। और उसीके प्रभाव के कारण गौल और जर्मन लोगों में तथाकथित अपराधियों को मृत्यु-दण्ड और अन्य भयंकर सजाएं देने की प्रथा आई। उसी तरह रोम के कानून शास्त्र के--जो वहां के साम्राज्यवाद के भ्रष्टाचार का फल था--प्रभाव में रहने के कारण जमीन के ऊपर एकाधिपत्य के विचार आए। इन सब विचारधाराओं ने प्राचीन युगों की साम्यवादी रीतियों को नष्ट कर दिया।

हम जानते ही हैं कि स्वतंत्र नगर अपने ढंग पर नहीं चल सके। अमीर और गरीब, साहूकार और गुलामों के आपसी झगड़ों के कारण वे शीघ्र ही राजकीय शासन के अधीन हो गए। और जैसे-जैसे राज्य अधिक शक्तिशाली होता गया, कानून बनाने की शक्ति दरबारी गुट के हाथों में पहुंचती गई। अब यदि राजा नये टैक्स लगाता, तो राष्ट्र के प्रतिनिधियों से स्वीकृति ली जाती। और नये टैक्सों की स्वीकृति देनेवाले कौन थे? राजा की स्वेच्छा अथवा सनक के अनुसार विधान सभाएं बुलाई जातीं और वह भी दो-दो शताब्दियों बाद। उनके सदस्य थे बड़े-बड़े सामंत और मंत्री--जिन्हें शायद ही कभी 'राजा की प्रजा' के दुःखों और अभावों की ओर ध्यान देने की फुर्सत मिलती हो। ये लोग थे, जो फ्रांस के लिए कानून बनाते थे।

कालान्तर में नये टैक्स लगाने की शक्ति भी केवल एक ही व्यक्ति के

हाथ में केन्द्रित हो जाती है। वह कह सकता है--"मैं ही राज्य हूं।" फिर राजा की 'गुप्त सभाओं' में मंत्री अथवा अशक्त राजा की सनकों के अनुसार कानून बनते हैं। और प्रजा को इन कानूनों के मानने के लिए बाध्य किया जाता है, नहीं तो मौत की सजा है। अब न्याय की दुहाई खत्म हो जाती है और सम्पूर्ण राष्ट्र राजा और उसके चंद दरबारियों का गुलाम बन जाता है। आइये, उस जमाने की भयंकर सजाओं को भी देखें। तथाकथित अपराधियों को गाड़ी के पहियों के नीचे डाल दिया जाता था, उनके कन्धों पर गाड़ी का जुआ रखा जाता था, कोड़े लगाये जाते थे और तरह-तरह की यातनाएं दी जाती थीं, और ये सजाएं सत्ताधारियों के मनोविनोद का साधन थीं।

फ्रांस की महान् राज्य-क्रान्ति ने कानून के इस ढांचे को, जो सामन्तशाही और राजशाही ने विरासत में छोड़ा था, नष्ट करना शुरू किया। क्रान्तिकारियों ने इस पुरानी इमारत के थोड़े-से हिस्से को ही नष्ट किया था कि उन्होंने यह काम मध्यम वर्ग के शहरी आदमियों को सौंप दिया। और इन व्यक्तियों ने कानून का एक नया ढांचा बनाना प्रारम्भ कर दिया। उनका उद्देश्य था गरीबों के ऊपर अपनी हुकूमत जमाना। अब विधान सभा ने हर चीज के लिए कानून बनाना प्रारम्भ कर दिया। कानूनों के ढेर लग गए। और ये कानून थे क्या ?

इनमें से अधिकांश का एक ही उद्देश्य था, व्यक्तिगत पूंजी, चंद व्यक्तियों द्वारा शेष समाज के शोषण से संचित सम्पत्ति, की रक्षा करना। उनका उद्देश्य था शोषण के लिए नये क्षेत्र तैयार करना। और जैसे-जैसे पूंजी, राज्य के विभिन्न कार्य, जैसे रेल, तार, बिजली, रासायनिक उद्योग, साहित्य, विज्ञान, आदि पूंजीपतियों के कब्जे में पहुंचते गए, शोषण के इन नये तरीकों पर कानूनों ने अनुमति की मुहर लगा दी। इस प्रकार कानून शोषण द्वारा उपार्जित धन के ऊपर चंद व्यक्तियों के एकाधिपत्य की व्यवस्था को चलाने में सहायक हुए। मजिस्ट्रेट, पुलिस, फौज, शिक्षा, अर्थ-विभाग, सब केवल एक ही आराध्य देव की सेवा करते हैं--यानी व्यक्तिगत पूंजीवाद। सबका केवल एक ही उद्देश्य है--चंद पूंजीपतियों द्वारा किसानों और मजदूरों का

शोषण सुगम करना। अबतक जितने कानून बने हैं, उनका अध्ययन कर लीजिये। आप इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे।

कानूनों के समर्थक कहते हैं कि कानून का उद्देश्य व्यक्ति की रक्षा है। लेकिन ज़रा गौर से देखने पर मालूम पड़ेगा कि ये रक्षात्मक कानून सम्पूर्ण कानून-शास्त्र में अत्यन्त अल्प हैं। वास्तव में वर्त्तमान समाज में घृणा अथवा अमानुषिकता के कारण शायद ही एक व्यक्ति दूसरे पर आक्रमण करता हो। आजकल यदि कोई दूसरे को मारता है तो उसका उद्देश्य होता है उसे लूटना. व्यक्तिगत बदले के कारण हत्याएं एकाध ही होती हैं। लेकिन एक बात हमें याद रखनी है। यदि इस प्रकार के अपराध और अकर्म कम होते जा रहे हैं, तो निश्चय ही इस परिवर्त्तन का कारण कानून नहीं हैं। इसका कारण है—हमारे समाज में मनुष्यता और सामाजिकता का विकास। कानून-शास्त्र की विभिन्न धाराओं का इससे कोई ताल्लुक़ नहीं। आप एक साथ व्यक्तिगत रक्षा से सम्बन्धित सब कानूनों को हटा दीजिये और हमलों के विरुद्ध सब कार्रवाहियों को खत्म कर दीजिये—फिर भी आप देखेंगे कि व्यक्तिगत प्रतिशोध अथवा अमानुषिकता के कारण हमलों में कोई वृद्धि नहीं होगी।

कानूनों के समर्थक यह भी कह सकते हैं कि पिछले ५० वर्षों में जनता के लिए अनेक लाभदायक कानूनों का निर्माण हुआ है। ज़रा गौर से देखने पर मालूम पड़ जायगा कि प्रत्येक 'लाभदायक कानून' का अर्थ थोड़े शब्दों में यह है—"उन कानूनों को रद कर देना जो स्वयं मध्यम वर्ग के लिए कष्टप्रद हो गए थे, अथवा हद-से-हद नागरिकों को उन अधिकारों की प्राप्ति जो बारहवीं शताब्दी में उन्हें प्राप्त थे।" फांसी की सजा का बन्द होना, सब अपराधों के लिए 'जूरी' द्वारा मुकदमे की व्यवस्था, मजिस्ट्रेटों का चुनाव, अधिकारियों के ऊपर मुकदमा चलाने का अधिकार, बड़ी-बड़ी फौजों का हटाया जाना, निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था तथा अन्य सुविधाएं कानून-निर्माताओं की उदारता के परिणामस्वरूप बताई जाती हैं। लेकिन ये तो वे सहूलियतें हैं जो राजा और धार्मिक पुरोहितों के हाथ में सत्ता आने के पहले सम्पूर्ण समाज को प्राप्त थीं।

इस प्रकार हम स्पष्टतः देखते हैं कि हमारे वर्त्तमान कानून-शास्त्रों का सार और उद्देश्य सिर्फ शोषण को संरक्षण देना मात्र है। यही एक कार्य हमारी खर्चीली विधान सभाएं करती हैं। अब समय आ गया है कि हम केवल नारे लगाने से सन्तुष्ट होना छोड़ दें और कानूनों की असलियत को पहचानें। कानून-शास्त्र पहले किसी युग में सामाजिक जीवन के लिए आवश्यकीय रीतियों का संग्रह रहा होगा। आज तो वह सिर्फ आलसी अमीरों द्वारा मेहनत करनेवाली जनता का शोषण और उसके ऊपर हुकूमत जारी रखने का एक साधन-मात्र है। आज तो कानून-शास्त्र का मनुष्य जाति की सभ्यता से कोई ताल्लुक़ नहीं, उसका केवल एक ही उद्देश्य है—शोषण को बढ़ाना।

कानून के विकास का इतिहास भी हमें यही बताता है। क्या फिर भी कानून की इज्जत करने की बात दुहरावें ? कदापि नहीं। व्यक्तिगत सम्पत्ति—डकैती का परिणाम कहना अधिक सच होगा—की भांति कानून भी हमारी इज्जत का हकदार नहीं। और क्रांति का सबसे पहला कर्त्तव्य होगा कि पूंजी के ऊपर सब व्यक्तिगत अधिकारों को समाप्त करना और तमाम मौजूदा कानूनों को नष्ट कर देना।

मनुष्य-जाति के कार्यों को नियमित करने के लिए लाखों कानून हैं। वे तीन मुख्य श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं, पूंजी का संरक्षण, व्यक्तियों की रक्षा और सरकार की रक्षा। यदि इन सब कानूनों को बारीकी से देखें तो हम केवल एक ही तर्कसंगत और अवश्यम्भावी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे—कानन बिलकुल व्यर्थ हैं और मनुष्य-जाति के लिए घातक हैं।

साम्यवादी जानते हैं कि पूंजी की रक्षा के क्या मानी होते हैं। पूंजी संरक्षण सम्बन्धी कानून व्यक्ति अथवा समाज को उसकी मेहनत की उपज की गारंटी हर्गिज नहीं करते। इसके विपरीत उनका उद्देश्य होता है किसानों और मजदूरों के उत्पादन में से लूट को जायज़ करार देना। इन कानूनों की सफलता इस बात पर निर्भर रहती है कि उत्पादकों तथा सम्पूर्ण समाज से

लूटकर जो सम्पत्ति चंद स्वार्थियों ने इकट्ठी करली है, उसे सुरक्षित और पवित्र मान लिया जाय। मिसाल के लिए जब कानून कहता है कि अमुक मकान के ऊपर इस व्यक्ति का अधिकार है, तो बात ऐसी नहीं है कि उस व्यक्ति ने अपने मकान को स्वयं अथवा अपने मित्रों की सहायता से बनाया है और इसलिए मकान के ऊपर उसका अधिकार न्यायसंगत है। उस हालत में उक्त मकान के ऊपर उस व्यक्ति के अधिकार का कोई विरोध भी नहीं करता। लेकिन इसके विपरीत यहां तो कानून ऐसे व्यक्ति को उस मकान के ऊपर अधिकार दे रहा है, जो उसकी मेहनत से नहीं बना है, क्योंकि सबसे पहले तो उसने यह मकान दूसरों से बनवाया है, जिन्हें उसने मजदूरी के पूरे पैसे भी नहीं दिये। और फिर उस मकान की कीमत सामाजिक कारणों से है, जिनका वह व्यक्ति कभी निर्माण कर ही नहीं सकता। इस प्रकार कानून उक्त व्यक्ति को अधिकार उस चीज़ के ऊपर दे रहा है, जो समान रूप से सबकी है, और उसपर किसीका भी विशेषाधिकार नहीं। यही मकान यदि साइबेरिया में बनाया गया होता, तो उसका वह मूल्य नहीं होता जो एक बड़े शहर में स्थित होने के कारण है। वास्तव में मकान की बढ़ी हुई कीमत के कारण तो वे मजदूर हैं, जिन्होंने पिछले सैकड़ों वर्षों में उस नगर को बसाया है, और अपना खून-पसीना बहाकर उसे सुन्दर बनाया है, पानी और रोशनी का प्रबन्ध किया है, और वहां अच्छी सड़कों, कालेज, थियेटर, दूकानों, रेल आदि की व्यवस्था की है। इस प्रकार लन्दन, पेरिस अथवा रोम में किसी मकान के ऊपर एक व्यक्ति-विशेष का अधिकार स्थापित करके कानून गरीब जनता की मेहनत के फल को अन्यायपूर्वक एक लुटेरे के कब्जे में दे रहा है। पूंजी के ऊपर इस प्रकार के विशेषाधिकार बिल्कुल अन्यायपूर्ण हैं। अन्याय अनन्त काल तक चल नहीं सकता और उसके विरुद्ध सम्पूर्ण समाज के विद्रोह की सम्भावना है और इसीलिए इस अन्याय को कायम रखने के लिए सैकड़ों कानून, सिपाहियों की फौज, जज, जेल आदि का आविष्कार किया गया है।

कानून के आधे भाग--दीवानी कानून--का केवल एक ही उद्देश्य है—

सम्पूर्ण पूंजी पर समाज के सामान्य अधिकार को हटाकर चन्द व्यक्तियों के विशेषाधिकार को कायम रखना। वास्तव में तीन-चौथाई मुकदमों के मूल में यह व्यक्तिगत सम्पत्ति ही है——जैसे दो डाकू लूट के बँटवारे के ऊपर झगड़ा कर रहे हों, और हमारे फौजदारी कानून के अधिकांश का भी यही मतलब है, यानी मजदूर को मालिक की गुलामी में रखना, जिससे शोषण में आसानी हो।

जहांतक किसान-मजदूर का प्रश्न है, उनकी मेहनत की उपज के ऊपर उनके अधिकार का सवाल है, एक भी ऐसा कानून नहीं जो किसान-मजदूरों के हितों की रक्षा करता हो। कानून को इन गरीबों के अधिकार से कोई वास्ता नहीं। आजकल तलवार हाथ में लेकर खुले आम डकैती नहीं होती और न एक मजदूर हमला करके दूसरे मजदूर की उपज को छीनता है। अगर दो मजदूरों के बीच झगड़ा होता है, तो वे न्यायालय जाने के बजाय एक तीसरे आदमी को बुलाकर उसे तै करा लेते हैं। केवल एक ही वर्ग है जो दूसरों से उनकी उपज को छीनता है, और वह है पूंजीपतियों का वर्ग। जहां तक साधारण गरीब मनुष्य का सम्बन्ध है वहां तो बिना किसी प्रकार के कानूनों के सदैव ही अपनी मेहनत की उपज के ऊपर उसका अधिकार सुरक्षित है।

आज तो इन पूंजी-सम्बन्धी कानूनों के बड़े-बड़े पोथे बन गए हैं। हमारे वकील लोग उन्हें देख-देखकर बड़े प्रसन्न हैं, और इन सब कानूनों का इतना ही उद्देश्य है कि बड़े-बड़े पूंजीपतियों की सम्पत्ति की रक्षा करना, यानी चंद लुटेरों की लूट को जायज और पवित्र करार देना। इसलिए हम कहते हैं कि कानूनों की हमें कोई जरूरत नहीं। सामाजिक क्रांतिकारी इस बात पर दृढ़ हैं कि क्रान्ति होते ही इन सब पूंजी-सम्बन्धी कानूनों को एक साथ नष्ट कर देंगे। सचमुच क्रान्ति के दिन एक होली होगी, जिसमें सम्पत्ति-सम्बन्धी सम्पूर्ण कानून-शास्त्र और उसका सरंजाम——अधिकार पत्र, रजिस्टर आदि नष्ट कर देने होंगे। वह दिन दूर नहीं, जब ये पूंजी-सम्बन्धी कानून मानव-समाज के इतिहास में कलंक माने जायंगे और उतने ही निकृष्ट समझे जायंगे, जितनी प्राचीन काल की गुलामी की प्रथा।

जो बातें अभी पूंजी-सम्बन्धी कानूनों के बारे में कही गई हैं, वे कानून-शास्त्र के दूसरे भाग—यानी विधान-सम्बन्धी कानूनों—पर भी बिल्कुल लागू होती हैं।

कानून-शास्त्र का यह भाग भी एक पूरा बारूदखाना है, जिसमें सैकड़ों कानून, आर्डनेंस, दफाएं, राजकीय आज्ञाएं आदि भरी हुई हैं। ये सब मिलकर प्रजातंत्रीय सरकार के विभिन्न रूपों की रक्षा करते हैं। वह सरकार जनता की इच्छाओं के अनुरूप है कि नहीं, उसके अधीन मानव-समाज सुखी है या कराह रहा है—ये बातें दूसरी हैं और कानून-शास्त्र को इनसे कोई वास्ता नहीं। हम भली-भांति जानते हैं, अराजकवादियों ने शासन के विभिन्न रूपों की आलोचना करते हुए इस बात को कई बार दुहराया है, कि प्रत्येक सरकार का—चाहे वह राजकीय, वैधानिक अथवा प्रजतांत्रिक हो—एक ही उद्देश्य है—यानी अधिकार प्राप्त वर्ग—जागीरदार, पुरोहित, व्यापारी, आदि—के अधिकारों को कायम रखना और उनकी रक्षा करना। हमारे कानून-शास्त्र का एक-तिहाई से ज्यादा टैक्स, मादक कर, कर्मचारी, फौज, पुलिस, धर्म आदि से सम्बन्धित कानूनों से भरा रहता है। प्रत्येक देश में इस प्रकार के हज़ारों ही कानून होते हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य है शासन की मशीन को चलाना—उस शासन की मशीन को—जो अधिकार प्राप्त वर्ग के अधिकारों की पूर्णतः रक्षा करती है। इन कानूनों को जरा गौर से देखिये—इन्हें व्यवहृत होते देखिये और आपको मालूम होगा कि इनमें एक भी कानून मानव समाज के हितों का रक्षक नहीं।

इन वैधानिक कानूनों के विषय में दो रायें हो ही नहीं सकतीं। अराजकवादी ही नहीं, वरन लगभग सब क्रान्तिकारी सुधारक भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी कानूनों का केवल एक ही उपयोग हो सकता है—उनको आग के समर्पण कर दिया जाय।

कानून-शास्त्र के तीसरे भाग पर अभी विचार करना शेष है। इस भाग के कानून व्यक्ति की रक्षा और अपराध-निरोध से सम्बन्धित हैं। इनका अध्ययन हमें जरा बारीकी से करना होगा, क्योंकि अनेक व्यक्तियों

का कानून के ऊपर विश्वास इसी भाग के कारण है। कहा जाता है कि ये कानून हमारे समाज में शान्ति बनाये रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। वास्तव में य कानून उन रीतियों से विकसित हुए हैं जो मानव-समाज के विकास के लिए हितकारी और आवश्यक थीं। शासक वर्ग ने अपनी सत्ता को पवित्र बनाने के लिए इन रीतियों के साथ अपना स्वार्थ भी मिला दिया। आजकल भी जब सरकार की आवश्यकता की बात कही जाती है, तो उसके सर्वोच्च न्यायालय होने की बात कही जाती है। गांव का मुखिया भाषण देते हुए कहता है—"बिना किसी सरकार के आदमी एक-दूसरे को मार डालेंगे।" बर्क ने कहा था—"सब सरकारों का अन्तिम ध्येय यह है कि एक अपराधी के जुर्म की जांच करने के लिए बारह ईमानदार व्यक्तियों की व्यवस्था हो।"

खैर, इस विषय के ऊपर तमाम इकतरफा विचारों के होते हुए भी, अब भी समय है कि अराजकवादी घोषणा कर दें कि इस वर्ग के कानून भी उतने ही फिजूल और हानिप्रद हैं, जितने कि पहले वर्गों के।

सबसे पहले हम व्यक्तियों पर हमलों की बात लें। सभी जानते हैं कि इन अपराधों में दो-तिहाई से अधिक दूसरों की सम्पत्ति लूटने के लिए होते हैं। अपराधों की यह संख्या उसी दिन खत्म हो जायगी जिस दिन व्यक्तिगत पूंजी की प्रथा नष्ट हो जायगी। कुछ लोग कहेंगे, "लेकिन समाज में कुछ पाशविक व्यक्ति रहेंगे और यदि उनको सजा देने के लिए कोई कानून न रहे, तो वे अन्य व्यक्तियों पर आक्रमण करेंगे, हर झगड़े में अपना चाकू निकालेंगे और तनिक-सी बात पर निरपराध व्यक्ति को मार डालेंगे।" जब कभी यह प्रश्न उठता है कि समाज को दण्ड देने का अधिकार है कि नहीं, ये ही बातें दुहराई जाती हैं।

इन सब तर्कों के बावजूद एक बात निर्विवाद है कि सजाओं की कड़ाई से अपराधों की संख्या में कमी नहीं होती। आप कातिल को फांसी पर चढ़ा दें, या उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालें, फिर भी हत्याएं होना बन्द नहीं होगा। इसके विपरीत आप फांसी की सजा हटा दीजिये और आप देखेंगे कि हत्याओं की संख्या में कोई वृद्धि नहीं होगी, कमी होने की अधिक सम्भावना है।

यह बात हम वास्तविक तथ्यों के आधार पर कह रहे हैं। यदि फसलें अच्छी हों, भोजन सस्ता हो और मौसम सुहावना रहे, तो हत्याएं तुरन्त कम हो जायंगी। यह बात तथ्य-सिद्ध है कि अपराधों की संख्या मौसम और भोजन सामग्री के मूल्यों के अनुपात से घटती-बढ़ती है। यह ठीक है कि सब हत्याएं भूख के कारण नहीं होतीं। लेकिन जब फसल अच्छी होती है, खाद्य पदार्थ सस्ते रहते हैं, और मौसम सुहावना होता है, तो आदमी सन्तुष्ट और खुश रहता है। फिर यकायक वह दुर्भावनाओं का शिकार नहीं होता और छोटी-छोटी बातों के लिए अपने साथी के पेट में चाकू भोंकने की कल्पना भी उसके मस्तिष्क में नहीं आती।

यह भी सर्वविदित तथ्य है कि एक भी कातिल फांसी की सजा के डर से हत्या करने से नहीं रुका। जो व्यक्ति अपने पड़ोसी पर आक्रमण करता है, वह उसके परिणामों के विषय में बहुत नहीं सोचता। शायद ही किसी कातिल का विश्वास हो कि उसे हत्या का दण्ड नहीं भोगना पड़ेगा। अभी हम उस समाज की चर्चा नहीं कर रहे, जब आदर्श शिक्षा की व्यवस्था होगी, मनुष्यों को अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के विकास करने का पूरा-पूरा अवसर मिलेगा, उनके उपयोग के लिए उचित अवसर मिलेंगे और उन्हें इतने सुख होंगे कि वह दुर्भावनाओं से अपने जीवन को कलुषित नहीं करेंगे। हमारे समाज की वर्त्तमान नितान्त पतितावस्था में भी—इतने वेश्यालयों के होते हुए भी—जिस दिन कातिलों को सजा देना बन्द कर दिया जायगा, हत्याओं में कोई वृद्धि नहीं होगी। इसके विपरीत यह अधिक सम्भव है कि हत्याएं कम हो जायं। वास्तव में अधिकांश कातिल वे व्यक्ति होते हैं, जिन्हें जेलों ने पशु बना दिया है।

कानूनों के समर्थक उनके अनेक लाभ बताते हैं और समाज के लिए सजाओं को उपयोगी मानते हैं। लेकिन क्या इन तर्क करनेवालों ने कभी यह भी तुलनात्मक अध्ययन किया है कि कानून और सजा से समाज को कितना फायदा हुआ है और उसके कितने भयंकर खेदजनक परिणाम हुए हैं? सिर्फ उन सजाओं का स्मरण कीजिये जो खुले आम सड़कों पर दी जाती

थीं; और समाज के ऊपर क्या प्रभाव पड़ता था ? आज पृथ्वी के ऊपर मनुष्य सबसे अधिक निर्मम प्राणी है। और मनुष्यों की कुत्सित प्रवृत्तियों को किसने पोषित और विकसित किया है ? यह कार्य किया है कानून के सरंजाम की मदद से राजा, न्यायाधीश और पुरोहितों ने। उन्होंने कोड़ों द्वारा जीवित मांस उधड़वाया, घावों में खौलता पानी डलवाया, मार से हड्डियां तक तुड़वा दीं, मनुष्यों को जीवित ही जमीन में गड़वा दिया—सिर्फ इसलिए कि उनकी सत्ता बनी रहे। आप उस पतन की कल्पना कीजिये जो मानव-समाज में जासूसों के कारण व्याप्त है—वे जासूस जिन्हें सरकार लाखों रुपया देती है कि वे अपराधियों को ढूंढ़ सकें और जिनकी सहायता से न्यायाधीश न्याय करने का दम भरते हैं। आप सिर्फ जेलों में जाइये और वहां देखिये कि मनुष्य का कितना पतन होता है जब उसकी स्वतंत्रता छीनकर उसे अन्य अपराधियों के बीच बन्द कर दिया जाता है। आप इस बात को याद रखिये कि जितना ही आप इन जेलों का सुधार करते हैं, उतने ही वे अधिक घृणास्पद होते हैं। हमारे आजकल के आदर्श कारागृह मध्य युग की काल-कोठरियों से भी अधिक निकृष्ट हैं। अन्त में आप उस गुलामी की मनोवृत्ति का भी अन्दाज लगाइये जो आज्ञा मानने की बाध्यता के परिणाम-स्वरूप मानव-समाज में आ गई है। आप उस मानसिक पतन की भी कल्पना कीजिये जो शासन के कारण, सत्ता के पास सजा देने के अधिकार के कारण—अन्तरात्मा अथवा मित्रों की भावनाओं का बिना खयाल किये न्याय करने के कारण, और जल्लादों, जेलरों और जासूसों के कारण—संक्षेप में कानून और सत्ता के फलस्वरूप, मानव-समाज में व्याप्त है। इन सबपर विचार कीजिए और फिर आप निश्चय ही हमारे साथ सहमत होकर कहेंगे कि कानून और सजा अत्यन्त घृणित हैं और तुरन्त ही खत्म होने चाहिए।

वर्त्तमान काल में भी ऐसी अनेक जातियां हैं जिनके बीच कोई राज-नैतिक संस्थाएं नहीं और इसलिए वे हमसे कम पतित हैं। ये जातियां इस तथ्य को जानती हैं कि वह व्यक्ति, जिसे हम अपराधी कहते हैं, बेचारा

अभागा है। वे समझती हैं कि उसका इलाज उसे कोड़ा लगाना, जेल में डालना अथवा फांसी देना कदापि नहीं। उसका इलाज है कि उसे अत्यन्त स्नेह से सहायता दी जाय, उसके साथ समानता और आदर का व्यवहार किया जाय, और उसे ईमानदार व्यक्तियों के बीच जीवित रखा जाय। हमारा विश्वास है कि अगली क्रान्तियों में हम भी यही आवाज उठावेंगे।

इसलिए फांसी के तख्तों को उखाड़ फेंको, जेलों को तोड़ दो और इस पृथ्वी पर सबसे गन्दे वर्ग—न्यायाधीश, पुलिस और जासूसों—को नष्ट कर दो। जिस व्यक्ति ने उत्तेजनावश अपने साथी के साथ दुर्व्यवहार किया है, उसके साथ भाई की तरह हमदर्दी से व्यवहार करो। अन्त में मध्यम वर्ग की आलसी और प्रमादी हरकतों को खत्म कर दीजिये। फिर आप देखेंगे कि निश्चय ही हमारे समाज में बहुत थोड़े अपराध होंगे।

अपराधों के सहायक हैं आलस्य, कानून और सत्ता। अपराधों के मूल कारण हैं पूंजी-सम्बन्धी कानून, शासन-सम्बन्धी कानून, सजा के कानून और सत्ता, जिसने कानूनों को बनाने और लागू करने का जिम्मा अपने-आप ले लिया है।

बस, अब हमें कानून नहीं चाहिए। न्यायाधीशों की कोई आवश्यकता नहीं। स्वाधीनता, समानता और सहज मानुषिक सहानुभूति द्वारा ही हम अपने कुछ भाइयों की असामाजिक भावानाओं को रोक सकते हैं।

: ७ :

सबका सुख

सबको सुख मिले, यह स्वप्न नहीं है। सबको सुख मिलना संभव है और वह मिल भी सकता है, क्योंकि हमारे पूर्वजों ने उत्पादन-शक्ति को बहुत बढ़ा दिया है।

वस्तुतः हम जानते हैं कि यद्यपि उत्पत्ति के काम में लगे हुए लोगों

की संख्या मुश्किल से सभ्य संसार के निवासियों की एक-तिहाई होगी तथापि वे आज भी इतना माल पैदा कर लेते हैं जिससे प्रत्येक घर एक खास हद तक सुखी हो सकता है। हमें यह मालूम है कि जो दूसरों की खरी कमाई बरबाद करने में ही लगे हुए हैं, वे सब लोग यदि किसी उपयोगी कार्य में अपना खाली समय व्यतीत करने को विवश किये जा सकें तो हमारी उत्पत्ति का परिमाण बहुत बढ़ जाय। इसी प्रकार यह भी मालूम हो चुका है कि मानव-जाति की सन्तानोत्पादन शक्ति से माल पैदा करने की शक्ति तेज है। भूमि पर मनुष्यों की जितनी घनी बस्ती होगी, उतनी ही उनकी सम्पत्ति उत्पन्न करने की शक्ति बढ़ेगी।

इंग्लैण्ड में सन १८४४ से १८९० तक आबादी सिर्फ ६२ फीसदी बढ़ी, पर वहां की उत्पत्ति कम-से-कम उससे दुगुनी बढ़ी, अर्थात १३० फीसदी। फ्रांस में आबादी और भी धीरे-धीरे बढ़ी है, परन्तु उत्पत्ति की वृद्धि तो वहां भी बहुत तेज ही हुई है। यद्यपि वहां खेती पर बारबार संकट आये हैं, राज्य के हस्तक्षेप, 'रक्तकर' (अनिवार्य भरती) और व्यापार तथा लेन-देन में सट्टेबाजी की बाधायें रही हैं, फिर भी पिछले अस्सी वर्षों में गेहूं की उत्पत्ति चौगुनी और कल-कारखानों के माल की उत्पत्ति दस गुनी बढ़ गई है। अमेरिका में तो इससे भी अधिक प्रगति हुई है। यद्यपि विदेशों के लोग वहां आ-आकर बस गए, या सच तो यह है कि यूरोप के फालतू श्रमिक वहां जाकर भर गए, फिर भी संपत्ति दसगुनी बढ़ गई है।

परन्तु इन आंकड़ों से तो सम्पत्ति की उस वृद्धि का धुंधला-सा ही अनुमान हो सकता है जो परिस्थिति के और अच्छी हो जाने पर हो सकती है, क्योंकि आजकल तो जहां हमारी सम्पत्ति-उत्पादन की शक्ति शीघ्रता से बढ़ी है वहां साथ-ही-साथ निठल्ले और बीच वाले लोगों की संख्या भी बहुत अधिक बढ़ी है। समाजवादियों का खयाल था कि पूंजी धीरे-धीरे थोड़े-से व्यक्तियों के हाथ में ही केन्द्रीभूत हो जायगी और फिर समाज को अपना न्याय्य उत्तराधिकार पाने के लिए केवल उन मुट्ठी भर करोड़पतियों की सम्पत्ति ले लेनी पड़ेगी। पर वास्तव में बात उल्टी ही हो रही है;

मुफ्तखोरों का दल बराबर बढ़ ही रहा है। फ्रांस में हर तीस आदमी के पीछे दस भी वास्तविक उत्पादक नहीं हैं। देश की सारी कृषि-सम्पत्ति सत्तर लाख से भी कम आदमियों की कमाई है और खानों तथा कपड़े के दोनों प्रधान उद्योगों में पच्चीस लाख से भी कम मजदूर हैं। मजदूरों को लूट-लूट कर खानेवाले कितने हैं। ब्रिटिश संयुक्त राज्य में स्त्री-पुरुष और बालक मिलाकर कुल दस लाख से कुछ ही अधिक मजदूर कपड़े के धंधे में लगे हैं, नौ लाख से कुछ कम मजदूर खानों में काम करते हैं, भूमि जोतने-बोने में भी बीस लाख से बहुत कम मजदूर काम करते हैं और पिछली औद्योगिक गणना के समय सारे उद्योग-धंधों में चालीस लाख से कुछ ही अधिक स्त्री-पुरुष और बालक थे। फलतः गणना-विभाग वालों को अपने गणनांक बढ़ाने पड़े, इसलिए कि साठ करोड़ जन-संख्या पर उत्पादकों की संख्या अस्सी लाख दिखाई जा सके। सच पूछिए तो जो माल ब्रिटेन से दुनिया के हर हिस्से में भेजा जाता है उसका निर्माण करनेवाले साठ-सत्तर लाख मजदूर ही हैं। इसके मुकाबले में जो लोग मजदूरों की मेहनत का बड़े-से-बड़ा लाभ स्वयं ले लेते हैं और उत्पादक और खरीदार के बीच में पहुंचकर, बिना श्रम किये, सम्पत्ति संचित कर लेते हैं, उनकी संख्या कितनी है।

किन्तु इस शक्ति के द्रुत विकास के साथ-साथ निठल्ले और बीच-वाले दलालों की संख्या में भी भारी वृद्धि हो रही है। यदि पूंजी धीरे-धीरे थोड़े-से आदमियों के हाथ में ही एकत्र होती जाय तब तो समाज को केवल इतना ही करना पड़े कि मुट्ठी भर करोड़पतियों से छीनकर वह जिनकी है उन्हें दे दी जाय। पर बात समाजवादियों की इस कल्पना के सर्वथा विपरीत हो रही है। मुफ्तखोरों का दल बुरी तरह बढ़ता जा रहा है।

इतना ही नहीं, पूंजीपति लोग माल की पैदावार भी बराबर घटाते रहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'आयस्टर' (घोंघों) की गाड़ियों-की-गाड़ियां समुद्र में सिर्फ इसलिए फेंक दी जाती हैं कि जो चीज आजतक केवल धनवानों के उपभोग की वस्तु थी वह कहीं गरीबों का खाद्य न बन

जाय। और भी सैकड़ों विलास-वस्तुओं का यही हाल होता है। कहां तक गिनाई जायं ! केवल यह याद रख लेना काफी है कि किस प्रकार अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं की पैदावार सीमित की जाती है। लाखों मजदूर रोज कोयला खोदने को तैयार हैं, जिससे वह कोयला ठंड से ठिठुरते हुए लोगों को गरमी पहुंचाने के लिए भेजा जा सके। किन्तु बहुधा उनमें से एक-तिहाई या आधों तक को सप्ताह में तीन दिन से अधिक काम नहीं करने दिया जाता। क्यों ? इसलिए कि कोयले का भाव ऊँचा रखना है। हजारों जुलाहों को करघे नहीं चलाने दिये जाते,भले ही उनके स्त्री-बच्चों के तन ढकने के लिए चीथड़े भी मयस्सर न हों और यूरोप के तीन-चौथाई लोगों को काफी कपड़ा न मिले।

सैकड़ों भट्टियां, हजारों कारखाने समय-समय पर बेकार रहते हैं। बहुतों में सिर्फ आधे समय काम होता है। प्रत्येक सभ्य देश में लगभग बीस लाख मनुष्य तो ऐसे बने ही रहते हैं जिन्हें काम चाहिए पर दिया नहीं जाता।

यदि इन लाखों नर-नारियों को काम दिया जाय तो वे कितने हर्ष से बंजर जमीन को साफ करके या खराब जमीन को उपजाऊ बनाकर उम्दा फसलें तैयार करने में लग जायं ! इनका एक ही वर्ष का सच्चे दिल से किया हुआ परिश्रम लाखों बीघा बेकार जमीन की पैदावार को पांच-गुना कर देने के लिए काफी होगा। किन्तु दुर्भाग्य तो देखिये कि जो लोग धनोपार्जन की विविध दिशाओं में अग्रगामी बनने में सुख मानते हों उन्हीं-को केवल इस कारण हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना पड़ता है कि भूमि, खानों और उद्योगशालाओं के स्वामी समाज को चूस-चूसकर उस धन को तुर्की या मिस्र में या और कहीं लगाना पसन्द करते हैं और वहां के लोगों को भी गुलाम बनाते हैं।

यह तो हुई उत्पत्ति को जान-बूझकर और प्रत्यक्ष रूप से कम करने की बात। किन्तु इसका एक अप्रत्यक्ष ढंग भी है जिसका कोई हेतु ही समझ में नहीं आता है, जिससे धनवानों के थोथे गर्व की तुष्टि भर होती है।

यह हिसाब लगाना आवश्यक है कि जिस शक्ति से उत्पादन का और उससे भी अधिक उत्पादक यंत्र तैयार करने का काम लिया जा सकता है उस शक्ति का कितना अपव्यय किया जाता है और सम्पत्ति का उपार्जन किस सीमा तक कम किया जाता है। इतना बता देना काफी है कि बाजारों पर प्रभुत्व प्राप्त करने, पड़ोसी देशों पर बलात् अपना माल लादने और स्वदेश के गरीबों का खून आसानी से चूस सकने के एकमात्र उद्देश्य से यूरोप सेनाओं पर बेशुमार रुपया खर्च करता है। करोड़ों रुपया हर साल नाना प्रकार के कर्मचारियों के वेतन पर व्यय किया जाता है। और इन कर्मचारियों का काम क्या है? यही कि वे अल्पसंख्यक लोगों अर्थात् मुटठी भर धनिकों के राष्ट्र के आर्थिक जीवन का गति-चक्र अपने हाथ में रखने के हक की रक्षा करें? करोड़ों रुपया न्यायाधीशों, जेलखानों, पुलिसवालों और तथोक्त न्याय के दूसरे कार्यों पर खर्च किया जाता है और यह सब निरर्थक व्यय है; क्योंकि यह अनुभव की बात है कि बड़े-बड़े नगरों में जब-जब जनता का थोड़ा-सा भी कष्ट निवारण हुआ है तब-तब अपराधों की संख्या और मात्रा बहुत कम हो गई है। इसी प्रकार करोड़ों रुपया दल या राज-नीतिज्ञ-विशेष अथवा सट्टेबाजों के किसी विशेष समूह के लाभ के लिए समाचार पत्रों द्वारा हानिकर सिद्धान्त और झूठी खबरों के फैलाए जाने में लगाया जाता है।

किन्तु सबसे अधिक विचार तो उस परिश्रम का करना है जो सर्वथा व्यर्थ जाता है। कहीं तो धनवानों के लिए अश्वशालाएँ, कुत्तेखाने और नौकरों के दल-के-दल रखे जाते है; कहीं समाज की बेहूदगियों और फैशन-परस्तों की कुरुचियों को तृप्त करने के लिए सामग्री जुटाई जाती है; कहीं ग्राहक अनावश्यक वस्तुएं खरीदने को विवश किए जाते हैं या झूठे विज्ञा-पन देकर घटिया माल उनके सिर मढ़ दिया जाता है, अथवा कारखानेदारों के फायदे के लिए सर्वथा हानिकारक चीजें तैयार की जाती हैं। इस प्रकार जिस सम्पत्ति और शक्ति की हानि की जाती है उससे उपयोगी वस्तुओं की उत्पत्ति दुगुनी हो सकती है, या कारखाने इतने यंत्रों से सुसज्जित किये जा

सकते है कि थोड़े ही समय में दुकानें उस माल से भर जायं, जिसके बिना अधिकांश जनता दुःख उठा रही है। वर्त्तमान व्यवस्था में तो प्रत्येक राष्ट्र के चतुर्थांश उत्पादक साल में तीन-चार महीने बेकार रहने को लाचार होते है और आधे नहीं तो एक-चौथाई लोगों की मेहनत का, धनवानों के मनो-रंजन तथा जनता के रक्त शोषण के सिवाय, दूसरा उपयोग नहीं होता।

इस प्रकार यदि हम एक ओर इस बात का विचार करें कि सभ्य राष्ट्रों की उत्पादन-शक्ति किस तेजी से बढ़ रही है और दूसरी ओर इसका कि वर्त्तमान परिस्थिति के कारण कितना कम माल उत्पन्न किया जाता है, तो हम इस नतीजे पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि यदि हमारी आर्थिक व्यवस्था जरा और बुद्धि-संगत हो जाय तो कुछ ही वर्षों में इतने उपयोगी पदार्थों का ढेर लग जाय कि हमें कहना पड़े, "बस बाबा! इतना रोटी-कपड़ा और ईंधन काफी है! अब हमें शांतिपूर्वक यह सोचने दो कि हम अपनी शक्ति और अवकाश का सर्वोत्तम उपयोग कैसे करें।"

हम फिर कहते हैं कि सबको विपुल सुख-सामग्री मिले, यह कोई स्वप्न नहीं है। उस समय यह भले ही स्वप्न रहा हो जब बीघे भर जमीन से मर-पचकर भी थोड़े-से गेहूं पल्ले पड़ते थे और खेती और उद्योग के सारे औजार लोगों को हाथ से ही बनाने पड़ते थे। किन्तु अब यह कोरी कल्पना नहीं रहा, क्योंकि ऐसी चालक (मोटर) शक्ति खोज निकाली गई है जो थोड़े-से लोहे और कुछ बोरे कोयलों की सहायता से उसे घोड़े के समान बलवान और आज्ञाकारी मशीनों तथा अत्यन्त जटिल यन्त्रजाल का स्वामी और संचालक बना देती है।

परन्तु यह कल्पना तभी सत्य हो सकती है जब यह विपुल धन, ये नगर, भवन, गोचर-भूमि, खेती की जमीन, कारखाने, जल-स्थल-मार्ग और शिक्षा व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहें और एकाधिकार प्राप्त लोग इनका मन-माना उपयोग न कर सकें। यह सब बहुमूल्य सम्पत्ति, जिसे हमारे पूर्वजों ने बड़े कष्ट से कमाया, बनाया, सजाया अथवा खोज निकाला, सबकी सम्मिलित सम्पत्ति बन जानी चाहिए, जिससे मानव-जाति के संयुक्त

हिताहित का ध्यान रखकर सबका अधिक-से-अधिक भला किया जासके। निःसंपत्तिकरण वैयक्तिक स्वामित्त्व का अन्त होना ही चाहिए। सबका सुख साध्य है, निःसम्पत्तिकरण साधन है।

तो बस, निःसम्पत्तिकरण—मनुष्य को सुखी बनाने के सभी साधनों की साम्यवादी व्यवस्था ही बीसवीं शताब्दी की यह समस्या है जो इतिहास ने उसके सामने रखी है।

पर यह समस्या कानून के द्वारा हल नहीं की जा सकती। इसकी कोई कल्पना भी नहीं करता। क्या गरीब और क्या अमीर, सभी समझते हैं कि न तो वर्त्तमान सरकार और न भावी राजनीतिक परिवर्त्तनों से उत्पन्न होने वाला कोई शासन ही इस समस्या को कानून से हल करने में समर्थ होगा। सबको सामाजिक क्रांति की आवश्यकता मालूम होती है। निर्धन और धनवान दोनों मानते हैं कि यह क्रांति निकट आ पहुंची है और कुछ ही वर्षों में होनेवाली है।

उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्ध में विचारों में बड़ा परिवर्तन हुआ। सम्पत्तिशाली वर्ग ने इसे दबा रखने और इसकी स्वाभाविक बाढ़ मार देने की बहुत कोशिश की, किन्तु यह नवीन भावना अपने बंधन तोड़कर अब क्रांति के रूप में मूर्त्तिमान हुए बिना नहीं रह सकती।

क्रांति आयगी किधर से ? इसके आगमन की घोषणा कैसे होगी ? इन प्रश्नों का उत्तर कोई नहीं दे सकता। भविष्य अभी अज्ञात के गर्भ में है। पर जिनके आँखें हैं और मस्तिष्क है वे उसके लक्षणों को समझने में गलती नहीं करते। मजदूर और उनके रक्त-शोषक, क्रांतिवादी और प्रतिगामी, विचारक और कर्ममार्गी, सभीको ऐसा मालूम हो रहा है कि क्रांति हमारे द्वार पर खड़ी है।

अच्छा, तो जब यह बिजली गिर चुकेगी तब हम क्या करेंगे ?

हम प्रायः क्रांतियों के आश्चर्यजनक दृश्यों का अध्ययन तो इतना अधिक करते हैं और उनके व्यावहारिक अंग पर इतना कम ध्यान देते हैं

कि सम्भव है हम इन महान आंदोलनों के तमाशे––शुरू के दिनों की लड़ाई––मोर्चेबन्दी को ही देखकर रह जायं। पर यह प्रारम्भ की भिड़ंत जल्दी ही खत्म हो जाती है। क्रांति का सच्चा काम तो पुरानी रचना के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद ही शुरू होता है।

पुराने शासन अशक्त और जर्जर तो होते ही हैं, आक्रमण भी उनपर चारों ओर से होता है। बेचारे विद्रोह की फूंक लगते ही उड़ जाते हैं। जन-साधारण की क्रांति के सामने तो पुरातन व्यवस्था के विधाता और भी तेजी के साथ गायब हो जाते हैं। उसके समर्थक देश को छोड़ भागते हैं और अन्यत्र सुक्षित बैठकर षड्यन्त्रों की रचना और वापस लौटने के उपाय सोचा करते हैं।

जब पुरानी सरकार नहीं रहती तो सेना भी लोकमत के ज्वार के सामने खड़ी नहीं रहती। सेनानायक भी दूरदर्शितापूर्वक भाग जाते हैं और सिपाही उनका कहना नहीं मानते। सेना या तो निरपेक्ष खड़ी रहती है अथवा विद्रोहियों में मिल जाती है। पुलिस आराम से खड़ी-खड़ी सोचती है कि भीड़ को मारें या हम भी 'कम्यून (स्वतंत्र प्रादेशिक सरकार) की जय' बोल दें। कुछ पुलिसवाले ऐसे भी निकल आते हैं जो अपने-अपने स्थान पर पहुंचकर नई सरकार की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगते हैं। धनवान् नागरिक अपनी-अपनी पेटियां भरकर सुरक्षित स्थानों को चल देते हैं। साधारण लोग रह जाते हैं। क्रांति देवी का अवतरण इसी प्रकार होता है।

कई बड़े-बड़े शहरों में कम्यून की घोषणा कर दी जाती है। हजारों आदमी बाजारों में इधर-उधर घूमने लगते हैं और शाम को सभास्थलों में जाकर पूछते हैं––'हम क्या करें?' इस प्रकार सार्वजनिक मामलों पर उत्साह-पूर्वक चर्चा होने लगती है। सब उनमें दिलचस्पी लेने लगते हैं। जो लोग कल तक उदासीन थे वे ही शायद सबसे अधिक उत्साह दिखाने लगते हैं। सर्वत्र सद्भावना और विजय को पक्का कर देने की उत्कट लालसा पाई जाती है। ऐसे ही समय में अपूर्व देशभक्ति के कार्य होते हैं। जनसाधारण में

आगे बढ़ने की भरपूर अभिलाषा होती है।

ये सब बातें शानदार और महान होती हैं, किन्तु ये भी क्रांति नहीं है। बात यह है कि क्रांतिकारियों का कार्य तो यहां से शुरू होता है। निस्संदेह प्रतिहिंसा के कार्य होंगे। जनता के कोपभाजन व्यक्ति अपने किये का फल पायंगे। किन्तु ये बातें भी क्रांति नहीं है, केवल संग्राम की स्फुट घटनाएं हैं।

समाजवादी राजनीतिज्ञ, कट्टर सुधारक, कलतक जिनकी कहीं पूछ नहीं थी ऐसे प्रतिभाशाली पत्रकार और हाथ-पैर पीटकर भाषण करने वाले वक्ता—मध्यवित्त और मजदूर सभी—जल्दी-जल्दी नगर-भवन और सरकारी दफ्तरों में पहुंचकर रिक्त स्थानों पर अधिकार कर लेंगे। कुछ लोग जी भरकर अपने शरीर को सोने-चांदी के आभूषणों से सजा लेंगे; मंत्रियों के दर्पणों में उन्हें देख-देखकर अपनी सराहना करेंगे और अपने पद के अनुरूप महत्त्वसूचक मुद्रा धारण कर आज्ञा देना सीखेंगे। इन गौरव चिन्हों के बिना वे अपने कारखाने या दफ्तर के साथियों पर रोब कैसे गांठ सकते हैं? दूसरे लोग सरकारी कागजात में गड़ जायंगे और सच्चे दिल से उन्हें समझने की कोशिश करेंगे। ये कानून बनायंगे और बड़े-बड़े हुक्म निकालेंगे, पर इनकी तामील करने का कष्ट कोई न उठायेगा। क्रांति जो ठहरी!

उन्हें जो अधिकार मिला नहीं है उसका ढोंग रचने के लिए वे पुराने शासन के स्वरूप का सहारा लेंगे। वे 'अस्थायी सरकार,' 'सार्वजनिक रक्षा-समिति', 'नगर-शासकों' इत्यादि अनेक नाम ग्रहण करेंगे। निर्वाचित हों अथवा स्वयंभू, वे समितियों और परिषदों में बैठेंगे। वहां दस-बीस अलग-अलग विचार-सरणियों के लोग एकत्र होंगे। उनके मस्तिष्क में क्रांति के क्षेत्र, प्रभाव और ध्येय की भिन्न-भिन्न कल्पनाएं होंगी। वे वाग्युद्ध में अपना समय बर्बाद करेंगे। ईमानदार लोगों का एक ही स्थान में ऐसे महत्त्वाकांक्षियों से पाला पड़ेगा जिन्हें केवल शक्ति-अधिकार की चाह है और जो उसके मिलने पर जिस जनता में से वे निकलते हैं उसीको ठोकर मारते हैं। ये परस्पर-विरोधी विचारों के लोग एकत्र होंगे जिन्हें आपस में क्षणभंगुर

संधियां करनी पड़ेंगी, जिनका उद्देश्य सिर्फ बहुमत बनाना होगा। परन्तु यह बहुमत एक दिन से ज्यादा टिकने का नहीं। परिणाम यह होगा कि ये आपस में लड़ेंगे, एक-दूसरे को अनुदार सत्तावादी और मूर्ख बतायेंगे, किसी गम्भीर विषय पर एकमत न हो सकेंगे, जरा-जरा-सी बातों पर वाद-विवाद करेंगे और सिवाय लम्बी-चौड़ी घोषणाएं निकालने के और कोई ठोस काम न कर सकेंगे। एक ओर तो ये लोग इस प्रकार अपना महत्त्व प्रदर्शित करते रहेंगे और दूसरी ओर आंदोलन की सच्ची शक्ति बाजारों में भटकती फिरती होगी।

इन बातों से अभिनयप्रिय लोग भले ही खुश हो लें, किन्तु यह भी क्रांति नहीं है।

हां, इस बीच में जनता को तो कष्ट भोगने ही होते हैं। कारखाने बन्द रहते हैं। व्यापार चौपट हो जाता है। मजदूरों को जो थोड़ी-सी मजदूरी पहले मिलती थी वह भी नहीं मिलती। खाद्य पदार्थों का भाव चढ़ जाता है। फिर भी जन-साधारण वीरोचित निष्ठा के साथ, जो सदा उनकी विशेषता रही है और जो महान संकटों के अवसरों पर और भी उच्च हो जाती है, धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हैं। सन् १८४८ में उन्होंने कहा था—"हम प्रजातंत्र सरकार से तीन महीने तक कुछ न मांगेंगे।" परन्तु उनके 'प्रतिनिधि' और नई सरकार के बाबू लोग और दफ्तर के अदना-से-अदना पदाधिकारी तक नियम से तनख्वाहें लेते रहे।

जनता कष्ट उठाती है। बालोचित विश्वास और स्वाभाविक प्रसन्नता के साथ लोग सोचते हैं कि "नेताओं पर भरोसा रखना चाहिए। वे वहां उस सभाभवन, नगर भवन, या सार्वजनिक रक्षा समिति में हमारी भलाई सोच रहे हैं।" परन्तु 'वहां' तो नेतागण दुनिया भर की बातों पर विवाद किया करते हैं, केवल जनता के हित की चर्चा नहीं करते। १७९३ में जब फ्रांस में दुष्काल पड़ गया और उसने क्रांति को पंगु कर दिया, जब लोगों की बुरी दशा हो रही थी, यद्यपि बाजारों में शानदार बग्घियों की भीड़ वैसी ही लगी रहती थी और स्त्रियां बढ़िया-बढ़िया आभूषण और पोशाकें पहन

कर निकलती थीं, तब राब्सपियर जैकीबन दल वालों से आग्रह कर रहा था कि वे इंग्लैण्ड की राज्य-व्यवस्था पर लिखे हुए उसके ग्रंथ पर बहस ही कर लें। १८४८ में मजदूर लोग तो व्यापार-व्यवसाय बन्द हो जाने के कारण कष्ट पा रहे थे, पर अस्थायी सरकार और राष्ट्र सभा इसपर झगड़ रही थीं कि सिपाहियों की पेंशन क्या दी जाय और जेलखानों में मशक्कत कैसी ली जाय ? उन्हें उस बात की फिक्र न थी कि जनता इस विपत्तिकाल में किस प्रकार दिन काट रही है। पेरिस की कम्यून-सरकार (१८७० ई०), जो प्रशिया की तोपों की छाया में जन्मी थी और केवल सत्तर दिन ही जीवित रह पाई, उसने भी यही गलती की। उसने नहीं समझा कि अपने योद्धाओं को पेटभर खिलाये बिना क्रांति सफल कैसे होगी और सिर्फ थोड़ा-सा दैनिक वेतन नियत कर देने से ही कैसे कोई आदमी युद्ध कर सकेगा और कैसे अपने परिवार का पोषण करेगा।

इस प्रकार कष्ट भोगती हुई जनता पूछती है—"इन कठिनाइयों से पार पाने का उपाय क्या है ?"

इस प्रश्न का एक ही उत्तर दिखाई देता है। वह यह कि हमें यह बात मान लेनी चाहिए और उच्च स्वर में उसकी घोषणा कर देनी चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य को और सब बातों के पहले जीवित रहने का अधिकार है, फिर चाहे वह मनुष्य समाज में किसी भी श्रेणी का हो, बलवान हो या निर्बल, योग्य हो अथवा अयोग्य। साथ ही यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि समाज के हाथ में जीवन के जितने साधन हैं उनको सबमें निरपवाद रूप से बांट देना उसका कर्त्तव्य है। हमें इस सिद्धान्त को मानकर उसपर चलना भी चाहिए।

क्रांति के प्रथम दिन से ही ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि श्रमजीवी यह जान जाय कि उसके लिए नवीन युग का उदय हो गया। भविष्य में किसीको पास में महल होते हुए पुल के नीचे दुबककर सोने की मजबूरी न होगी, धन का बाहुल्य रहते हुए किसको भूखों न मरना पड़ेगा। सब

चीजें सबके लिए हैं, यह बात कोरी कल्पना ही न रहेगी, व्यवहार में भी चरितार्थ होगी। क्रांति के प्रथम दिन से ही श्रमजीवी को यह मालूम पड़ना चाहिए कि इतिहास में पहली ही बार ऐसी क्रांति हुई है जो जनता को उसके कर्त्तव्यों का उपदेश देने से पूर्व उसकी आवश्यकताओं का विचार करती है।

यह सब कानून से न होगा। काम करने का एकमात्र सच्चा और वैज्ञानिक ढंग अख्तियार करना होगा—ऐसा ढंग जिसे सर्वसाधारण समझ सकें और चाहते हैं। वह यह है कि सबके सुख-सम्पादन के लिए आवश्यक साधनों पर तुरन्त और पक्का कब्जा कर लिया जाय। अन्न-भण्डारों, कपड़े की दुकानों और निवास-स्थानों पर जनता का अधिकार हो जाना चाहिए। कोई चीज बर्बाद न होनी चाहिए। शीघ्र इस प्रकार का संगठन करना चाहिए कि भूखों को भोजन मिले, सबकी आवश्यकताएं पूरी हों और उत्पत्ति इस प्रकार हो कि उससे व्यक्ति या समूह विशेष को ही लाभ न पहुंचे बल्कि सारे समाज के जीवन और विकास को सहायता मिले।

फ्रांस की १८४८ की क्रांति में 'काम करने का अधिकार' इस वाक्य-खंड से लोगों को धोखा दिया गया और अब भी ऐसे ही दोमानी वाक्यों से धोखा देने की कोशिश होती है, परन्तु अब इनकी जरूरत नहीं है। हमें साहस करके 'सबके सुख' के सिद्धान्त को स्वीकार करना और उसकी सम्भावना को पूर्ण करना चाहिए।

१८४८ में जब श्रमजीवियों ने काम करने के अधिकार का दावा किया तो राष्ट्रीय और म्युनिसिपल कारखाने बनाये गए और वहां वे २० पेंस रोजाना मजदूरी पर पिसने के लिए भेज दिये गए। जब उन्होंने कहा कि 'श्रमिकों का संगठन' होना चाहिए तो जवाब दिया गया—"मित्रो, धैर्य रखो। सरकार इसका इंतजाम कर देगी। अभी तो तुम मजदूरी लेते चलो। वीर श्रमिको, जीवन-भर भोजन के लिए युद्ध किया है, अब तो जरा आराम ले लो!" इस बीच तोपें सुधार ली गईं, फौज बुला ली गई और मध्यम वर्ग की जानी हुई तरह-तरह की तरकीबों से श्रमिक निश्शस्त्र कर दिये गए। यहां तक कि जून १८४८ के एक दिन, पिछली सरकार को

उलट देने के चार मास बाद ही, उनसे कह दिया गया कि अफ्रीका में जाकर बसो, नहीं तो गोलियों के निशाना बना दिये जाओगे।

परन्तु सुखपूर्वक जीवित रहने के अधिकार पर आरूढ़ होने में जनता इससे महत्त्वपूर्ण दूसरे अधिकार की भी घोषणा करती है। वह यह कि इस बात का निर्णय भी वही करेगी कि उसको सुख किन चीजों से मिलेगा, उस सुख की प्राप्ति के लिए कौन-कौन-सी वस्तुएं उत्पन्न करनी होंगी और किस-किसको निकम्मी समझकर फेंक देना होगा।

'काम करने का अधिकार' और 'सबका सुख' इन दोनों सिद्धान्तों का भेद समझने योग्य है। पहले का अर्थ इतना ही है कि श्रमजीवी सदा थोड़ी-सी मजदूरी का दास बना रहे, कठोर परिश्रम करने को विवश हो, उसपर मध्यम वर्ग के लोगों का शासन बना रहे और वे उसका रक्त-शोषण करते रहें। दूसरे सिद्धान्त का अर्थ यह है कि श्रमजीवी मनुष्यों की भांति रह सके और उसकी संतान को वर्त्तमान से अच्छा समाज मिले। अब समय आ गया है कि व्यापारवाद की चक्की में न पिसते रहकर सामाजिक क्रांति की जाय और श्रमजीवियों को उनके नैसर्गिक अधिकार प्राप्त हों।

: ८ :

जेल से भागना

दो साल बीत चुके थे। मेरे साथियों में से कई मर चुके थे, बहुत-से पागल हो गए थे; लेकिन हमारे मुकदमे की सुनवाई की कोई चर्चा ही नहीं थी। मेरा स्वास्थ्य भी दूसरे वर्ष का अन्त होते-होते गिरने लगा था। लकड़ी का स्टूल (जिससे कसरत करता था) भारी लगने लगा और पांच मील का टहलना मानो बड़ा लम्बा सफर। चूंकि किले में हम लोग साठ कैदी थे और जाड़ों में दिन छोटे होते थे, हममें से प्रत्येक तीसरे दिन सिर्फ बीस मिनट के लिए बाहर टहलने ले जाया जाता था। मैंने अपनी शक्ति को बनाये रखने की भरसक कोशिश की थी, लेकिन पूरे साल-भर उत्तरी

ध्रुव की सर्दी में रहने का असर होना ही था। साइबेरिया की यात्रा के बाद मेरे शरीर में रक्त-रोग के जो लक्षण प्रकट होने लगे थे, वे अब कोठरी की नमी और अंधेरे के कारण पूरी तरह से व्याप्त हो गए। इस तरह की जेल की उस भयंकर बीमारी का मेरे शरीर पर पूरा-पूरा असर हो गया।

आखिर १८७६ के मार्च अथवा अप्रैल में हमें बताया गया कि तीसरे दस्ते (खुफिया पुलिस) ने प्रारम्भिक छान-बीन पूरी कर ली है और हमारा मुकदमा न्यायाधीशों के पास भेज दिया गया है। इसलिए हम अब कचहरी के पासवाली जेल में भेज दिये गए। यह जेल चार मंजिल की एक बड़ी भारी इमारत थी, जिसमें कोठरी-ही-कोठरी थीं। यह फ्रांस और बेलजियम के कारागारों के नमूने पर हाल ही में बनी थी। प्रत्येक कोठरी में आंगन की तरफ एक खिड़की थी और लोहे के छज्जों की ओर एक दरवाज़ा था। चारों मंज़िलों के ये छज्जे लोहे के एक ज़ीने से मिले हुए थे।

हममें से अधिकांश को इस जेल में आना अच्छा लगा। यहां उस किले से कहीं अधिक चहल-पहल थी और बाहर के आदमियों से पत्र-व्यवहार, अपने रिश्तेदारों से मिलने अथवा आपस में बातचीत करने की सुविधा भी अधिक थी। बिना किसी रोक-थाम के दीवारों पर ठुक-ठुक जारी रहती थी। इसी तरह मैंने अपने पड़ोसी युवक को पेरिस-कम्यून का सारा इतिहास सुना दिया, पर इसमें लगभग एक सप्ताह लग गया।

लेकिन मेरा स्वास्थ्य और भी ख़राब हो गया। उस तंग कोठरी का, जो एक कोने से दूसरे कोने तक सिर्फ चार कदम थी, संकीर्ण वातावरण मुझे असह्य था। जैसे ही भाफ की नलियां चालू की जातीं, वह बर्फ-जैसी ठंडी कोठरी एकदम हद से ज्यादा गरम हो जाती! कोठरी में टहलने के लिए जल्दी-जल्दी मुड़ना पड़ता था, इसलिए थोड़ी देर में ही चक्कर आने लगते और दस मिनट की खुली हवा की कसरत भी, आंगन तंग होने के कारण, स्फूर्तिप्रद नहीं होती थी। जेल का वह डाक्टर, जिसके विषय में जितना कम कहा जाय, उतना ही अच्छा, 'अपनी जेल में' 'रक्त-रोग' का नाम भी नहीं सुनना चाहता था!

क्रोपाटकिन के सुयोग्य अग्रज एलेग्जैण्डर

मुझे घर से खाना मंगाने की अनुमति मिल गई थी, क्योंकि मेरे एक रिश्तेदार वकील इस जेल के नज़दीक ही रहते थे। लेकिन मेरी पाचन-क्रिया इतनी ख़राब हो गई थी कि मुश्किल से रोटी का छोटा टुकड़ा और एक-दो अंडे खा पाता। मेरा स्वास्थ्य दिन-पर-दिन गिरने लगा और लोग कहने लगे कि अब मैं बहुत दिनों जीवित नहीं रह सकूंगा। अपनी कोठरी में जाने के लिए जब मैं ज़ीना उतरता था, तो मुझे दो-तीन बार रुकना पड़ता था। मुझे याद है कि एक वृद्ध पहरेदार सिपाही ने मुझसे कहा था—"दुःख है कि तुम इस बसन्त के आख़िर तक न बच सकोगे।"

मेरे रिश्तेदार अब अत्यन्त चिन्तित हो गए। मेरी बहन हेलेन ने मुझे ज़मानत पर छुड़ाने का प्रयत्न किया; लेकिन शूबिन (अफसर) ने व्यंग से मुसकराते हुए उत्तर दिया—"अगर तुम डाक्टर का लिखा हुआ यह सार्टीफिकेट ले आओ कि तुम्हारा भाई दस दिन के भीतर मर जायगा, तो मैं उसे छोड़ दूंगा!" मेरी बहन यह जवाब पाकर कुर्सी पर धड़ाम से गिर गई और अफसर के सामने ही सिसकने लगी, जिससे उसे सन्तोष ही हुआ होगा! लेकिन अन्त में उसने अपनी यह प्रार्थना मंजूर करा ही ली कि मेरा इलाज सेण्ट पीटर्सबर्ग में फौजी अस्पताल के सबसे बड़े डाक्टर द्वारा होना चाहिए। इस वृद्ध होशियार डाक्टर ने बहुत ही अच्छी तरह मेरी जांच की और वह इस निर्णय पर पहुंचा कि मुझे कोई भयंकर शारीरिक बीमारी नहीं, केवल शुद्ध वायु न मिलने के कारण रक्त-रोग हो गया है। उसने मुझसे कहा—"केवल शुद्ध वायु की ही तुमको ज़रूरत है।" थोड़ी देर के लिए वह असमंजस में रहा और तत्पश्चात् उसने निश्चयपूर्वक कहा—"ज़्यादा बातचीत फिज़ूल है। तुम्हें किसी भी हालत में यहां न रहने दिया जाना चाहिए, दूसरी जगह भेजना ही है।"

दस दिन बाद मुझे एक फौजी अस्पताल में भेज दिया गया। यह अस्पताल सेण्ट पीटर्सबर्ग के बाहर बना था। इसमें बीमार अफसरों और कैदियों के लिए एक छोटी जेल भी थी। मेरे दो साथी, जब यह निश्चित हो चुका कि वे शीघ्र ही तपेदिक से मर जायंगे, इसी जेल में भेजे गए थे। यहां जल्दी ही

मेरी तन्दुरुस्ती ठीक होने लगी। मुझे फौजी गार्ड के कमरे के पास ही एक बड़ा कमरा मिला। कमरे में दक्षिण की तरफ़ लोहे के सीकचों की एक खिड़की थी। खिड़की के सामने एक सड़क थी, जिसके दोनों तरफ हरे-भरे पेड़ थे, और सड़क के उस पार खुली जगह थी, जहां २०० बढ़ई मियादी बुखार के रोगियों के रहने के लिए छोटे-छोटे कमरे बनाते थे। रोज रात को करीब एक घंटे तक ये बढ़ई मिलकर गाना गाते थे। एक संतरी जो मेरे कमरे पर ही तैनात था, सड़क पर पहरा देता रहता था।

मैं खिड़की को दिन भर खुली रखता और धूप के, जो मुझे मुद्दत से नसीब नहीं हुई थी, मज़े लिया करता। यहां वसन्त की स्वच्छ वायु में अच्छी तरह सांस लेने का अवसर मिला और मेरा स्वास्थ्य ठीक होने लगा। मैं हल्का खाना पचा लेता, ताकत भी महसूस होने लगी और मैंने अपना काम फिर नये उत्साह से आरम्भ कर दिया। जब मैंने देखा कि मैं अपनी पुस्तक का दूसरा भाग किसी भी तरह समाप्त नहीं कर सकता, तो उसका सारांश ही लिख डाला––यह बाद को पहले भाग में ही छपा।

किले में मैंने एक साथी से, जो इस अस्पताल में रह चुका था, सुना था कि यहाँ से भाग जाना बहुत मुश्किल नहीं है। शीघ्र ही मैंने अपने मित्रों को यहाँ आने की सूचना दे दी। लेकिन भागना उतना आसान नहीं था, जितना मेरे दोस्तों ने मुझसे कह रखा था। मेरा पहरा और भी ज़्यादा कड़ा कर दिया गया और मेरा कमरे से बाहर निकलना भी बन्द कर दिया गया। अस्पताल के सिपाही और संतरी यदि कमरे में आते, तो एक या दो मिनट से ज़्यादा नहीं ठहरते थे।

मित्रों ने मेरे छुटकारे के लिए कई एक योजनाएँ बना । कुछ तो उनमें अत्यन्त मनोरंजक थीं। उदाहरण के लिए एक योजना यह थी कि मैं खिड़की के लोहे के सींकचे काट लूं। फिर किसी बरसात की रात को, जब संतरी अपने बक्स में झपकी ले रहा हो, दो मित्र पीछे से आकर इस सन्दूक को इस होशियारी से उलट दें कि उसे चोट भी न लगे और वह सन्दूक से ढँक जाय। और इसी बीच मैं खिड़की से बाहर कूद जाऊँ! लेकिन अचानक

इससे अच्छी तरकीब निकल आई।

"बाहर टहलने की अनुमति माँगो।"—एक सिपाही ने धीरे-से मुझसे कहा। मैंने तदनुसार प्रार्थना की। डाक्टर ने मेरा समर्थन किया और हर रोज़ तीसरे पहर चार बजे के लगभग मुझे टहलने की आज्ञा मिल गई।

उस पहले दिन को, जब मैं टहलने निकला, मैं कभी नहीं भूलूंगा। निकलते ही मैंने देखा कि करीब २०० गज़ लम्बा और १५० गज़ चौड़ा हरी घास का आँगन है। फाटक खुला रहता और उसमें से अस्पताल, सड़क और उसके राहगीर दीखते थे। जब मैं जेल की सीढ़ियों से उतरता, तो आँगन और उस फाटक को देखते ही रह जाता, मानो पैर ही रुक गए हों! आँगन में एक तरफ जेल थी—करीब १०० गज़ लम्बी छोटी इमारत थी, जिसके दोनों तरफ संतरियों के छोटे बक्स थे। दोनों संतरी जेल के सामने इधर-से-उधर चक्कर लगाते रहते और इस तरह घास पर एक पगडंडी ही बन गई थी। मुझसे कहा गया कि मैं इसी पगडंडी पर टहला करूँ। चूंकि दोनों संतरी भी इसीपर टहलते रहते थे, इसलिए मेरे और किसी संतरी के बीच का फासला कभी १०-१२ गज़ से ज़्यादा न रहता, और अस्पताल के तीन सिपाही सीढ़ियों पर बैठकर चौकसी करते रहते।

इस बड़े अहाते की दूसरी ओर जलाऊ लकड़ी गाड़ियों से उतारी जा रही थी और कई किसान उसे दीवार के सहारे लगा रहे थे। अहाते के चारों तरफ़ मोटे तख़्तों की दीवार थी और उसका फाटक गाड़ियों के आने-जाने के लिए खुला रहता था। यह खुला फाटक मुझे बहुत अच्छा लगता। मन में सोचता, "मुझे इस तरफ दृष्टि नहीं गड़ानी चाहिए।" फिर भी उसी तरफ देखता रहता! पहले दिन जब मुझे कोठरी में वापस पहुँचाया गया तो तुरंत बाहर के मित्रों को काँपते हुए हाथों से अत्यन्त अस्पष्ट अक्षरों में मैंने लिखा—"इस समय इशारे की भाषा में लिखना असम्भव-सा प्रतीत होता है। यहाँ से भागना इतना आसान लगता है कि बुखार-जैसी कँपकँपी मालूम होती है। आज ये लोग मुझे बाहर आँगन में टहलाने ले गए थे। वहाँ फाटक खुला था और नजदीक कोई संतरी भी न था। इस फाटक से मैं निकल भागूंगा, यहाँ

के संतरी मुझे पकड़ नहीं सकेंगे।" और फिर मैंने अपने भागने की तरकीब का खुलासा लिखा––"एक महिला को खुली गाड़ी में अस्पताल आना है। वह गाड़ी से उतरे। गाड़ी फाटक से लगभग ५० कदम की दूरी पर खड़ी रहे। फाटक के बाहर एक आदमी टहलता रहे। जब चार बजे मैं टहलने के लिए निकाला जाऊँ, तो थोड़ी देर हाथ में टोप लिए टहलूंगा। यह आदमी इसका मतलब समझे कि यहाँ मेरी तैयारी है। फिर आप लोगों को इशारा करना है कि 'सड़क साफ़ है'। बिना तुम्हारे इशारे के मैं नहीं भागूँगा, और जब एक दफ़ा फाटक से बाहर हो जाऊँ तो गिरफ्तार नहीं होना है। या तो आप लोग सामने का हरा बँगला, जो यहाँ से साफ़ दीखता है, किराये पर ले लें और उसकी खिड़की से इशारा कर दें, और यदि यह सम्भव न हो, तो अपना इशारा रोशनी या आवाज़ों से करना, जैसे गाड़ीवान किसी तरह उजाला कर दे। इससे भी बेहतर होगा कि कोई गाना होता रहे, जिसका मतलब होगा कि सड़क साफ़ है। संतरी शिकारी कुत्ते की तरह मेरा पीछा करेगा, लेकिन किसी तरह मैं उससे १०-५ क़दम आगे ही रहूँगा। सड़क पर मैं गाड़ी में झपटकर बैठ जाऊँगा और फिर हम लोग भाग जायंगे। अगर इस बीच संतरी गोली मार देता है, तो फिर चारा ही क्या है! उससे बचना अपनी सूझ से बाहर है। फिर यहाँ जेल के भीतर निश्चित मौत के मुकाबले में यह ख़तरा कुछ बुरा तो है नहीं।"

कई सुझाव और भी दिये गए; लेकिन आख़िर में यही तरकीब स्वीकृत हुई। हमारे मित्रों ने तैयारियाँ शुरू कर दीं। इसमें कुछ ऐसे सज्जनों ने भी भाग लिया, जो मुझे बिल्कुल न जानते थे। फिर भी उनका जोश ऐसा था, मानों उनके अत्यन्त प्रिय मित्र का छुटकारा होने जा रहा हो। लेकिन इस उपाय में कुछ मुश्किलें थीं और समय कम रह गया था। मैं ख़ूब मेहनत करता, रात तक लिखता रहता; लेकिन फिर भी मेरा स्वास्थ्य अच्छा होने लगा––इतनी जल्दी कि स्वयं मुझे आश्चर्य होता! जब मैं पहले दिन आँगन में लाया गया था तो धीरे-धीरे चलने में भी थकान मालूम होती थी और अब मैं दौड़ सकता था! लेकिन मैं तो उसी तरह धीरे-धीरे टहलता

था, वरना मेरा टहलना ही बन्द कर दिया जाता। डर लगता रहता कि कहीं मेरी स्वाभाविक फुर्ती सारा भेद न खोल दे। और इस बीच मेरे साथियों को इसके लिए बहुत-से आदमी जुटाने थे, एक तेज़ घोड़ा और अनुभवी गाड़ीवान ढूँढ़ना था और ऐसी बीसियों बाधाओं का भी खयाल करना था जो इस तरह के षड्यंत्र में तत्काल उपस्थित हो जाती हैं। इन सब तैयारियों में लगभग एक माह लग गया और इस बीच किसी भी दिन मुझे पुरानी जेल में भेजा जा सकता था!

आख़िर भागने का दिन निश्चित हो गया। पुराने रिवाजों के अनुसार २९ जून संत पीटर और संत पाल का दिन है। मेरे मित्रों ने अपने ड्यंत्र में थोड़ी भावुकता का पुट देकर मेरे छुटकारे के लिए इसी दिन को निश्चित किया। उन्होंने मुझे सूचित कर दिया था कि जब मैं अपनी तैयारी का इशारा करूँगा, तो वे एक लाल गुब्बारा उड़ाकर मुझे जता देंगे कि बाहर सब ठीक है। फिर एक गाड़ी आवेगी, और आख़िर में एक गाना होगा, जिससे मुझे मालूम हो जाय कि सड़क साफ़ है।

२९ तारीख को मैं बाहर निकला और टोप उतारकर गुब्बारे का इन्तज़ार करने लगा। लेकिन वहाँ कुछ भी न था। आधा घंटा बीता, सड़क पर गाड़ी की खड़खड़ाहट सुनाई दी। एक आदमी को गाते हुए भी सुना; लेकिन गुब्बारा नज़र नहीं आया! आधा घंटा ख़त्म हुआ और मैं अत्यंत निराश होकर अपने कमरे में लौट आया। सोचा कि कुछ बाधा आ गई होगी।

उस दिन सचमुच अनहोनी हो गई थी। सेण्ट पीटर्सबर्ग में सैकड़ों गुब्बारे बाजार में बिका करते हैं, लेकिन उस दिन एक भी गुब्बारा न था! एक छोटे बच्चे से एक गुब्बारा लिया, लेकिन वह पुराना था, उड़ा ही नहीं! मेरे मित्र फिर एक चश्मेवाले की दूकान से हाइड्रोजन बनाने का यंत्र लाये। उससे एक गुब्बारा भरा भी, लेकिन वह उड़ा ही नहीं! हाइड्रोजन में नमी रह गई थी। समय थोड़ा बचा था। फिर एक छाते में गुब्बारे को बांधा और एक महिला इस छाते को ऊँचा करके अहाते की दीवार के सहारे सड़क पर चली, लेकिन

मुझे कुछ भी न दीख पड़ा—–दीवार बहुत ऊँची थी और वह महिला बहुत ठिगनी। बाद को ज्ञात हुआ कि उस दिन गुब्बारे का न मिलना ही ठीक हुआ। जब मेरे भागने का समय निकल गया, तो गाड़ी पूर्व-निश्चित रास्ते पर दौड़ाई गई। उसी सड़क पर दस-बारह गाड़ियाँ अस्पताल के लिए लकड़ी ढो रही थीं। इन गाड़ियों के कुछ घोड़े दाईं ओर भागे, कुछ बाईं ओर। नतीजा यह हुआ कि हमारी गाड़ी बहुत धीमे-धीमे चल सकी और एक मोड़ पर तो बिल्कुल ही रुक गई। अगर मैं उसमें होता तो निश्चित रूप से पकड़ लिया गया होता।

अब उस सड़क पर कई जगह इशारे देने का प्रबन्ध किया गया, जिससे मालूम हो जाय कि सड़क साफ़ है या नहीं। अस्पताल से दो मील की दूरी तक मेरे साथी संतरियों की तरह खड़े हुए। एक साथी हाथ में रूमाल लिए सड़क पर टहलता था—यदि सामने गाड़ी दीखे तो वह रूमाल जेब में रख ले। दूसरा साथी मूँगफली खाते हुए एक पत्थर पर तैनात था—–जैसे ही गाड़ियाँ दीखें, मूँगफली खाना बन्द कर दे। ये सब इशारे विभिन्न मित्रों द्वारा आखिर उस घोड़ागाड़ी तक पहुँचने थे। मेरे मित्रों ने सामने का हरा बंगला भी, जो फाटक के सामने ही था, किराये पर ले लिया था, और जैसे ही सड़क साफ हो, उसकी खिड़की में एक आदमी को वायलिन बजाना था।

अब अगला दिन निश्चित हुआ। ज्यादा देरी खतरनाक होती। वास्तव में अस्पताल के अधिकारियों ने गाड़ी का आना-जाना नोट कर लिया था। कुछ संदेहात्मक खबरें भी उनके पास अवश्य पहुँच गई होंगी, क्योंकि भागने से एक रात पहले मैंने अफसर को संतरी से कहते हुए सुना था—–"तुम्हारे कारतूस कहां हैं।" संतरी ने अपने कारतूस निकाल लिये तो अफसर ने कहा–"क्या तुमसे नहीं कहा गया कि आज रात को चार कारतूस अपनी जेब में तैयार रखना?" और वह तबतक वहां खड़ा रहा, जबतक संतरी ने चारों कारतूस अपनी जेब में न रख लिये। जब वह चलने लगा तो फिर आज्ञा दी—"मुस्तैद रहो!"

उन सब इशारों की रूप-रेखा मुझ तक पहुँचानी थी। दूसरे दिन दो

बजे मेरी एक रिश्तेदार महिला जेल आई, मुझे घड़ी देने। वैसे तो मेरे पास हर चीज़ एक अफसर के मार्फत आती थी, लेकिन चूंकि यह घड़ी खुली थी, मेरे पास सीधी पहुँचा दी गई। इस घड़ी में एक छोटा पुर्जा था जिसमें सारी तरकीब लिखी थी। मैं तो उसे पढ़कर कांप गया। कितनी हिम्मत और कैसी दिलेरी का काम था ! यदि किसीने घड़ी के ढक्कन को खोल लिया होता, तो वह महिला, जिसका पीछा पुलिस पहले से ही कर रही थी, तुरन्त वहीं गिरफ्तार हो जाती। लेकिन मैंने देखा कि वह जेल के बाहर सड़क पर निकल गई और नौ-दो-ग्यारह हो गई।

सदैव की भांति मैं चार बजे बाहर निकल आया और मैंने अपना इशारा कर दिया। थोड़ी देर में गाड़ी की खड़खड़ाहट सुनाई दी और हरे बंगले से वायलिन की ध्वनि भी आई। लेकिन उस वक्त मैं अहाते के दूसरे कोने पर था। मैं फाटक की तरफ चला—मन में सोचा, 'बस, कुछ क्षण और !' लेकिन फाटक के पास पहुँचते ही सहसा वायलिन बजना बन्द हो गया। करीब १५ मिनट बड़ी फिक्र में बीते। सोचता, 'वायलिन बन्द क्यों हो गया !' कुछ समय बाद ही देखा कि कोई एक दर्जन गाड़ियां फाटक से अहाते में आईं। तुरन्त ही वायलिनवाले सज्जन ने एक जोशीली चीज़ छेड़ी, मानो कह रहा हो—"बस, यही वक्त है, आखिरी मौका !" मैं धीरे-धीरे कांपता हुआ फाटक की ओर चला—इस आशंका में कि कहीं वायलिन फिर बन्द न हो जाय !

फाटक पर पहुँचकर मैंने मुड़कर देखा कि संतरी ५-६ कदम पीछे था और उल्टी तरफ देख रहा था। 'बस यही मौका है'—मेरे मन में आया। तुरन्त मैंने जेल की पोशाक उतार फेंकी और दौड़ने लगा। उस लम्बी-चौड़ी पोशाक को उतारने का अभ्यास मैं बहुत दिन से कर रहा था। वह कोट इतना बड़ा था कि किसी भी तरह एक सपाटे में उतरता ही नहीं था। मैंने उसकी बांहों के नीचे की सिलाई काट दी, फिर भी काम नहीं चला। आखिर मैंने उसे दो हरकतों में उतारने का अभ्यास प्रारम्भ किया, पहले उसे बांह से उतारता और बाद में उसे तुरन्त जमीन पर पटकता। धीरे-धीरे मैं इस क्रिया में पारंगत हो गया।

मुझे अपनी शक्ति पर बहुत विश्वास नहीं था, इसलिए दम बाकी रखने के लिए शुरू में धीरे-धीरे दौड़ा। लेकिन मैं कुछ ही कदम भागा होऊँगा कि किसान, जो दीवार के सहारे लकड़ी लगा रहे थे, चिल्लाने लगे––"पकड़ो ! पकड़ो ! वह भाग रहा है !" और वे मुझे फाटक पर रोकने भी दौड़े। अब तो मैं पूरे ज़ोर से दौड़ा। मेरे मन में बस केवल एक ही बात थी––'बस दौड़ो !' फाटक के नज़दीक गाड़ियों ने जो गड्ढे बना दिये थे, उनका भी मैंने ख्याल नहीं किया।

मेरे मित्रों ने जो हरे बँगले से मुझे भागते देख रहे थे, बाद में बताया कि संतरी ने तीन सिपाहियों के साथ मेरा पीछा किया। संतरी और मेरे बीच फासला कम था और उसे बराबर यही विश्वास बना रहा कि वह मुझे पकड़ लेगा। कई दफा उसने अपनी बन्दूक की संगीन मेरी पीठ में भोंकने के लिए आगे बढ़ाई भी। एक दफ़ा तो मेरे मित्रों को मालूम पड़ा कि मार ही दी। संतरी को पूरा विश्वास था कि वह मुझे पकड़ लेगा और इसीलिए उसने गोली नहीं दागी। लेकिन मैं उससे आगे ही रहा और अन्त में तो वह बिल्कुल पिछड़ गया !

फाटक के बाहर निकलकर देखा तो दंग रह गया––गाड़ी में एक अफ़सर फौजी टोप पहने बैठा था, उसने मेरी तरफ देखा भी नहीं। मन में सोचा, 'बस, खात्मा हो गया !' मित्रों ने लिखा था कि सड़क पर आने के बाद हर्गिज न घबराना। वहां तुम्हारी रक्षा के लिए कई साथी उपस्थित रहेंगे। मैंने निश्चय किया कि जिस गाड़ी में दुश्मन बैठा है, वहां न बैठूं। लेकिन जैसे-ही मैं गाड़ी के करीब पहुँचा, मैंने देखा कि इस अफसर के मेरे एक पुराने दोस्त की तरह के भूरे गलमुच्छे हैं। वह दोस्त हमारे गुट में तो नहीं था, लेकिन मेरा निजी मित्र था और उसकी दिलेरी, और खासकर ख़तरे के मौके पर उसकी हिम्मत को मैं जानता था। मन में सोचा, 'वह यहां इस वक्त कैसे आ सकता है !' मैं उसका नाम लेकर पुकारनेवाला ही था; लेकिन फिर अपनेको ज़ब्त किया और उसका ध्यान आकर्षित करने के लिए तालियां पीटीं। अब उसने मेरी ओर मुँह किया और तुरन्त मैं उसे पहचान गया !

वह रिवाल्वर हाथ में लिए तैयार था। मुझसे कहा––"जल्दी बैठो।" और तुरन्त गाड़ीवान से कहा––"जल्दी भगाओ, नहीं तो तुम्हारी जान की खैर नहीं।" घोड़ा बहुत ही अच्छा था। वह खास इसी मौके के लिए लाया गया था। पूरी तेजी से दौड़ा। पीछे से सैकड़ों आवाज़ें आ रही थीं––"पकड़ो! पकड़ो! भाग न जाय!" मेरे मित्र ने उसी समय मुझे एक शानदार ओवर-कोट पहना दिया। लेकिन पीछा करनेवालों से भी ज्यादा खतरा उस संतरी से था, जो अस्पताल के फाटक पर ही तैनात था, गाड़ी के खड़े होने की जगह के ठीक सामने। वह थोड़ा ही आगे बढ़कर आसानी से मुझे गाड़ी में चढ़ने से रोक सकता था। इसलिए एक मित्र को इस सिपाही का ध्यान बँटाने के लिए रखा गया था। और इस मित्र ने किया भी वह काम बड़ी खूबी से। वह सिपाही पहले अस्पताल के रसायन विभाग में काम कर चुका था। मेरे मित्र ने खुर्दबीन और उसके द्वारा दीखनेवाली चीजों के बारे में उससे बहस छेड़ दी। मनुष्य-शरीर पर रहनेवाले एक कीटाणु के विषय में उसने सिपाही से पूछा––"तुमने कभी देखा है कि उसके कितनी लम्बी पूँछ होती है?" "क्या बकते हो? पूँछ?" फिर उसने कहा––"जी हां, उसके पूँछ होती है और काफी बड़ी; खुर्दबीन से साफ दीखती है।" सिपाही ने उत्तर दिया–– "अच्छा, अपने ये किस्से तुम मुझे न सुनाओ।" मेरे मित्र ने फिर कहा––"मैं इसके बारे में ज्यादा जानता हूँ––सबसे पहले तो खुर्दबीन से मैंने पूँछ ही देखी थी!" जब मैं उनके नजदीक से भागकर झपाटे के साथ गाड़ी में बैठा, तो यही बहस चल रही थी! पाठकों को यह घटना किस्से-कहानी-सी जँचेगी, पर है यह पूर्णतया सत्य।

गाड़ी तुरन्त एक तंग गली में मुड़ गई––उसी दीवार की तरफ, जिसके सहारे किसान लकड़ी रख रहे थे। अब ये सब किसान मेरा पीछा करने में लगे थे। गाड़ी ने मोड़ इतने सपाटे से लिया कि करीब-करीब उलट ही गई। मैं तुरन्त आगे की ओर बढ़ गया और मित्र को भी आगे खींच लिया, इससे गाड़ी उलटने से बच गई! तंग सड़क को पारकर हम बाईं तरफ मुड़े। वहां एक सार्वजनिक संस्था के सामने दो सशस्त्र सिपाही खड़े

थे। उन्होंने हमारे साथी की फौजी टोपी को सलामी दी। वह अब भी काफी उत्तेजित था, इसलिए मैंने उससे कहा––"शांत हो !" उसने उत्तर दिया–– "सब ठीक हो रहा है, फौजी आदमी हमें सलामी दे रहे हैं।" अब गाड़ीवान ने मेरी तरफ मुँह किया। मैंने देखा कि वह भी अपना एक पुराना दोस्त है। हमारा घोड़ा तेज़ चाल से भागा जा रहा था। हर जगह हमें मित्र खड़े मिले। वे हमें इशारा कर रहे थे और हमारी सफल यात्रा के लिए मंगल-कामनाएं ! अब हम एक दरवाजे पर उतरे और गाड़ी को आगे भेज दिया। मैं सीधा ज़ीना चढ़ गया और अपनी साली से मिला। वह बेहद खुश हुई और साथ अत्यंत ही चिन्तित भी। हर्ष और विषाद के आँसू उसकी आँखों में थे। उसने मुझे तुरन्त दूसरी पोशाक पहनने और अपनी विख्यात दाढ़ी को मुड़ा डालने के लिए कहा। दस मिनट के भीतर मेरा मित्र और मैं घर से चल दिये और एक दूसरी गाड़ी ले ली।

इस बीच अस्पताल के पहरेदार सिपाही और उनका अफसर बाहर निकले और सोचने लगे कि क्या किया जाय। आस-पास एक मील तक कोई गाड़ी ही न थी; सभी गाड़ियां हमारे मित्रों ने किराये पर ले रखी थीं। उस भीड़ की एक किसान बुढ़िया इन सबसे होशियार थी। उसने धीरे-से कहा––"बेचारे कैदी ! वे लोग प्रोसपैक्ट पर अवश्य पहुँचेंगे, और अगर कोई आदमी इस राह दौड़कर सीधा वहां पहुँचा तो वे सचमुच ही पकड़े जायंगे।" वह बिल्कुल ठीक कह रही थी। अफसर नजदीकवाली गाड़ी पर गया और उन आदमियों से प्रार्थना की कि वे घोड़े दे दें, लेकिन उन्होंने देने से साफ़ इन्कार कर दिया और अफसर ने भी बल-प्रयोग नहीं किया ! और वे वायलिन बजाने-वाले सज्जन और वह महिला भी, जिन्होंने हरा बंगला किराये पर लिया था, बाहर निकल आये और उस बुढ़िया के साथ भीड़ में शामिल हो गये ! जब भीड़ छट गई तो वे भी चम्पत हो गए !

उस दिन तीसरे पहर मौसम भी अच्छा था। हम लोग उन टापुओं की ओर चल दिये, जिधर सेण्ट पीटर्सबर्ग के अधिकांश उच्च श्रेणी के लोग बसन्त ऋतु में सूर्यास्त देखने जाया करते थे। रास्ते में बगल की सड़क पर एक

नाई की दूकान पर मैंने अपनी दाढ़ी भी सफाचट करा ली। अब मुझे पहचानना काफी मुश्किल था। हम लोग उन टापुओं में अपनी गाड़ी में इधर-से-उधर काफी देर तक चक्कर लगाते रहे। हमसे कह दिया गया था कि अपने रात के विश्राम-स्थल पर ज़रा देर से पहुँचें। अब सवाल था, इस बीच कहां जायं ? मैंने साथी से पूछा—"अब क्या करें ?" वह भी थोड़ी देर सोचता रहा और फिर तुरन्त गाड़ीवान से कहा—"डोनोन होटल ले चलो।" यह सेण्ट पीटर्सबर्ग का सबसे शानदार होटल था। वह बोला—"तुम्हें देखने के लिए कोई भी आदमी उस आलीशान होटल में न पहुँचेगा। वे तुम्हें सब जगह ढूंढ़ेंगे, लेकिन उस जगह का किसीको खयाल भी न आवेगा। वहां हम लोग भोजन करेंगे और फिर कुछ सुरापान भी ! तुम्हारे छुटकारे की सफलता की खुशी में।"

भला, ऐसे मुनासिब सुझाव का मैं जवाब ही क्या देता ! इसलिए हम लोग डोनोन पहुँचे। रात के भोजन का समय था। कमरों में शानदार उजाला हो रहा था और वे आदमियों से भरे थे। उन सबको हमने पार किया और एक अलग कमरा किराये पर लिया और वहां तबतक रहे, जबतक पूर्व निर्दिष्ट स्थान पर हमारे पहुँचने का समय नहीं हो गया। जिस मकान में हम पहले-पहल उतरे थे, उसकी तलाशी हमारे वहां से हटने के थोड़ी देर बाद ही हो गई। लगभग सभी मित्रों के घरों की तलाशी हुई, लेकिन डोनोन में ढ़ने की किसीको न सूझी !

दो दिन बाद मुझे एक कमरे में चले जाना था जो, मेरे लिए एक फर्जी नाम से किराये पर ले लिया गया था। लेकिन जो महिला मेरे साथ जानेवाली थी, उन्होंने उस मकान को पहले देख आने की होशियारी की। उस मकान के चारों तरफ जासूस थे ! कई मित्र मुझसे कहने आये कि वहां जाना अब खतरे से खाली नहीं ! पुलिस अत्यंत सतर्क हो गई थी। खुफिया-विभाग ने मेरी तस्वीर की सैकड़ों प्रतियां छपवाकर बंटवा दी थीं। जो जासूस मुझे पहचानते थे, मुझे सड़कों पर तलाश कर रहे थे। जो पहचानते नहीं थे, वे उन पहरेदारों को साथ लिए घूम रहे थे, जिन्होंने मुझे जेल में देखा था। ज़ार बहुत ही क्रुद्ध था कि उसकी राजधानी में ही मैं दिन-दहाड़े इस तरह भाग

गया ! उसने हुक्म दे दिया था—"क्रोपाटकिन को ज़रूर ही पकड़ना है।"

सेण्ट पीटर्सबर्ग में बने रहना असंभव था, इसलिए मैं नज़दीक के गांवों में छिपा रहा। पांच-छः दोस्तों के साथ मैं उस गांव में रहा, जहां इस मौसम में सेण्ट पीटर्सबर्ग के लोग तफरीह के लिए आया करते थे। फिर तय किया गया कि मुझे कहीं बाहर ही चला जाना चाहिए। लेकिन एक विदेशी पत्र द्वारा हमें मालूम हो गया था कि बाल्टिक और फिनलैण्ड प्रदेशों की सीमाओं के सब स्थानों और स्टेशनों पर वे जासूस तैनात थे, जो मुझे पहचानते थे। इसलिए मैंने निश्चय किया कि उस तरफ चलूं जिस तरफ किसीका खयाल ही न पहुँचे। एक मित्र का पासपोर्ट लेकर और दूसरे मित्र को साथ लेकर मैंने फिनलैण्ड की सीमा पार की और सीधा बोथीनिया की खाड़ी के एक बन्दरगाह पर पहुँचा। वहां से मैं स्वीडन निकल गया।

जब मैं जहाज पर बैठ गया और जब वह छूटने ही वाला था, तो मेरे साथी मित्र ने सेण्ट पीटर्सबर्ग की खबरें सुनाईं। सरकार ने मेरी बहन हेलेन को गिरफ्तार कर लिया था। मेरे भाई की साली भी, जो भाई और भाभी के साइबेरिया चले जाने के बाद मुझसे हर महीने मिलने आती थी, हिरासत में ले ली गई थी। मेरी बहन को तो मेरे जेल से भागने के बारे में कुछ भी पता न था। जब मैं भाग आया था, उसके बाद मेरे एक मित्र ने उसको यह खबर सुनाई थी। मेरी बहन ने बहुत-कुछ कहा, आरजू-मिन्नत की कि मुझे कुछ भी पता नहीं; लेकिन फिर भी पुलिस उसको उसके बच्चों से अलग करके ले गई और पन्द्रह दिन जेल में रखा। मेरे भाई की साली को शायद कुछ भास तो हो गया था कि कुछ तैयारियां हो रही हैं; लेकिन उनमें उसका हाथ बिल्कुल न था। अधिकारियों में यदि तनिक भी बुद्धि होती, तो समझ लेते कि जो महिला हर महीने नियमपूर्वक मुझसे मिलने आती थी, कम-से-कम वह तो इस षड्यंत्र में शामिल न होगी। उसको दो महीने जेल में रखा गया। उसके पति ने, जो एक प्रतिष्ठित वकील था, उसे छुड़ाने का भरपूर प्रयत्न किया। उसे अधिकारियों से उत्तर मिला, "हमें भी मालूम हो गया है कि इस षड़यंत्र में इस महिला का कोई हाथ नहीं; लेकिन जिस दिन हमने इसे गिरफ्तार किया

था, हमने ज़ार को यह सूचना भेज दी थी कि षड्यंत्र की संचालिका गिरफ्तार कर ली गई है और अब ज़ार को यह समझने में देर न लगेगी कि षड़यंत्र से इस औरत का कोई संबंध नहीं !"

बिना कहीं रुके मैं स्वीडन पार कर गया और क्रिश्चियाना पहुँचा। वहां हल नामक बन्दरगाह के लिए जहाज मिलने तक इन्तज़ार करता रहा। जब मैं जहाज पर पहुँच गया, तो मैंने जरा चिन्तित होकर सोचा––जहाज़ के ऊपर झंडा कहां का है––नारवे का, जर्मनी का या इंग्लैण्ड का ? तुरन्त मुझे दीखा, जहाज के ऊपर यूनियन जैक फहरा रहा है––वही झंडा, जिसके नीचे इटालियन, रूसी, फ्रांसीसी और सभी देशों के शरणार्थियों को शरण मिली है ! मैंने हृदय से उस पताका का अभिनन्दन किया।[1]

---

१. उपर्युक्त वृत्तान्त क्रोपाटकिन के आत्म-चरित से लिया गया है।

'मंडल' द्वारा प्रकाशित प्राप्य साहित्य

प्रार्थना-प्रवचन दो भाग (गांधीजी)	५॥)	गांधीजी ने कहा था (३ भाग)	॥।)
गीता-माता (भाग २) ,,	४)	विनोबा के विचार: २ भाग (विनोबा)	३)
पंद्रह अगस्त के बाद ,, १॥)	२)	गीता-प्रवचन ,, १),	१॥।)
धर्म-नीति ,, १॥)	२)	शान्ति-यात्रा ,,	१॥)
द० अफ्रीका का सत्याग्रह	३॥)	जीवन और शिक्षण ,,	२)
मेरे समकालीन ,,	५)	स्थितप्रज्ञ-दर्शन ,,	१)
आत्म-कथा ,,	५)	ईशावास्यवृत्ति ,,	॥।)
आत्म-संयम ,,	३)	ईशावास्योपनिषद् ,,	=)
गीता-बोध ,,	॥)	सर्वोदय-विचार ,,	१=)
अनासक्ति-योग ,,	१॥)	स्वराज्य-शास्त्र ,,	॥)
ग्राम-सेवा ,,	।=)	(विनोबा)	।)
मंगल-प्रभात ,,	।=)	गांधीजी को श्रद्धांजलि,,	।=)
सर्वोदय ,,	।=)	राजघाट की संनिधि में ,,	।=)
नीति-धर्म ,,	।=)	विचार-पोथी ,,	१)
आश्रमवासियों से ,,	।=)	सर्वोदय का घोषणा-पत्र,,	।)
हमारी माँग ,,	१)	जमाने की मांग ,,	=)
सत्यवीर की कथा ,,	।)	मेरी कहानी (नेहरू)	८)
संक्षिप्त आत्म-कथा,, १)	१॥)	मेरी कहानी संक्षिप्त ,,	२॥)
हिंद-स्वराज्य ,,	॥।)	हिन्दुस्तान की समस्याएं,,	२॥)
अनीति की राह पर,,	१)	लड़खड़ाती दुनिया ,,	२)
बापू की सीख ,,	॥)	राष्ट्रपिता ,,	२)
गांधी-शिक्षा (३ भाग)	१=)	राजनीति से दूर ,,	२)
आज का विचार (२ भाग)	॥।)	हमारी समस्याएँ (१ भाग),,	॥)
ब्रह्मचर्य (दो भाग)	१॥।)	विश्व-इतिहास की झलक ,,	२१)

हिंदुस्तान की कहानी (नेहरू)	५)	बापू (घ. बिड़ला)	२)
नया भारत ,,	।)	रूप और स्वरूप ,,	॥≈)
आजादी के आठ साल ,,	।)	डायरी के पन्ने ,,	१)
गांधीजी की देन (रा० प्र०)	१॥)	ध्रुवोपाख्यान ,,	।)
गांधी-मार्ग ,,	≈)	स्त्री और पुरुष (टाल्स्टाय)	१)
महाभारतकथा (राजाजी)	५)	मेरी मुक्ति की कहानी ,,	१॥)
कुब्जा-सुन्दरी ,,	२)	प्रेम में भगवान ,,	२)
शिशु-पालन ,,	॥)	जीवन-साधना ,,	१।)
मैं भूल नहीं सकता (काटजू)	२॥)	कलवार की करतूत ,,	।)
कारावास-कहानी (सु.नै.)	१०)	हमारे जमाने की गुलामी,,	।।।)
गांधी की कहानी (लु.फि.)	४)	बुराई कैसे मिटे ? ,,	१)
भारत-विभाजन की कहानी	४)	बालकों का विवेक ,,	।।।)
बापू के चरणों में	२॥)	हम करें क्या ? ,,	३॥)
इंग्लैंड में गांधीजी	२)	धर्म और सदाचार ,,	१।)
बा, बापू और भाई	॥)	अंधेरे में उजाला ,,	१॥)
गांधी-विचार-दोहन	१॥)	कल्पवृक्ष (वा. अग्रवाल)	२)
सर्वोदय-तत्व-दर्शन	७)	लोक-जीवन (कालेलकर)	३॥)
सत्याग्रह-मीमांसा	३॥)	साहित्य और जीवन	२)
बुद्धवाणी (वियोगी हरि)	१)	हिमालय की गोद में (म०प्र०पो)	२)
संत-सुधासार ,,	११)	कब्ज ,,	१)
श्रद्धाकण ,,	१)	राजनीति-प्रवेशिका	१)
अयोध्याकाण्ड ,,	१)	जीवन-संदेश (ख. जिब्रान)	१।)
भागवत-धर्म (ह. उ.)	६॥)	अशोक के फूल	३)
श्रेयार्थी जमनालालजी ,,	६॥)	जीवन-प्रभात	५)
स्वतंत्रता की ओर ,,	४)	कां. का इतिहास ३ भाग	३०)
बापू के आश्रम में ,,	१)	पंचदशी (सं. य. जैन)	१॥)
मानवता के झरने (माव.)	१॥)	सप्तदशी (सं० विष्णु प्रभाकर)	२)

रीढ़ की हड्डी (सं. विष्णु प्र०) १।।)
अमिट रेखायें ३)
एक आदर्श महिला १)
राष्ट्रीय गीत ।)
तामिल-वेद (तिरुवल्लुवर) १।।)
आत्म-रहस्य ३)
थेरी-गाथाएं १।।)
बुद्ध और बौद्ध साधक १।।)
जातक-कथा (आनंद कौ.) २।।)
हमारे गांव की कहानी १।।)
साग-भाजी की खेती ३)
ग्राम-सुधार १।)
पशुओं का इलाज (प.प्र.) ।।)
चारादाना „ ।)
रामतीर्थ-संदेश (३ भाग) १=)
रोटी का सवाल (क्रोपा.) ३)
नवयुवकों से दो बातें „ ।=)
पुरुषार्थ (डा. भगवानदास) ६)
काश्मीर पर हमला २)

शिष्टाचार ।।)
तट के बंधन (विष्णु प्रभाकर) २)
देवदासी (बोरकर) २)
भारतीय संस्कृति ३।।)
आधुनिक भारत ५)
फलों की खेती २।।)
मैं तन्दुरुस्त हूं या बीमार ।।)
नवजागरण का इतिहास ३)
गांधीजी छत्रछाया में १।।) २।।)
भागवत-कथा ३।।)
जय अमरनाथ (यशपाल जैन) १।।)
हमारी लोक-कथाएं १।।)
संस्कृत-साहित्य-सौरभ (२४ पुस्तकें) प्रत्येक ।=)
समाज-विकास-माला (५४ पुस्तकें) प्रत्येक ।=)
कृषि-ज्ञान-कोष ४)
प्रकाश की बातें १।।)
धरती और आकाश १।)

अढ़ाई रुपया